नमः श्री वीतरागाय

नमस्कार-मन्त्र

लेखक :

जैन-धर्म-दिवाकर, पंजाब-प्रवर्तक

श्री फूलचन्द्र 'श्रमण'

प्रकाशक :

आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति

जैन स्थानक, लुधियाना

प्रकाशक :

आचार्य श्री आत्मा राम जैन प्रकाशन समिति
जैन स्थानक, लुधियाना।

मूल्य तीन रुपए

031455

मुद्रक :

आत्म जैन प्रिंटिंग प्रेस
350, इण्डस्ट्रियल एरिया-ए
लुधियाना।

Phone 28797

परम श्रद्धेय आचार्य-प्रवर श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के
कर-कमलों में सादर समर्पित

समर्पण

मेरा यह इष्ट है
आराध्य साध्य उद्दिष्ट है।
अत: मेरा मानस
जीवन भर के लिये
इसमें समाविष्ट है।
इसके मननात्मक जप से
लेखन रूपी तप से
जो भी लिख पाया हूं
मनन के सिन्धु से
रत्न जो लाया हूं।
किसे करूं समर्पित इन्हें ?
सोचा, विचारा,
पालिया मन ने तब
चिन्तन का किनारा
वहीं बैठ सोचा
आनन्द और ऋषित्व के समन्वय रूप
जिनके गुण हैं अनूप
आचार्य आनन्द ऋषि के
पावन कर-कमलों में
जो श्रद्धा से तर्पित है
वह 'नमस्कार-मन्त्र'
सादर समर्पित है।

'अमण'

मन्त्रं संसारसारं, त्रिजगदनुपमं सर्वपापारिमन्त्रम्;
संसारोच्छेदमन्त्रं, विषमविषहरं कर्मनिर्मूलमन्त्रम् ।
मन्त्रं सिद्धिप्रदानं, शिवसुखजननं, केवलज्ञानमन्त्रम्,
मंत्रं श्रीजैन-मंत्रं, जप जप जपितं, जन्मनिर्वाण मन्त्रम् ।।

संसार में महामन्त्र श्री नवकार सारभूत मन्त्र है, तीनों लोकों में अनुपम है, सब पापों का नाश करनेवाला है, राग द्वेष रूप संसार का उच्छेद करने वाला है, भयंकर विष को हरने वाला है, कर्मों को निर्मूल करनेवाला है, सिद्धियां देने वाला है, कल्याण और सुख का कारण है, केवलज्ञान की प्राप्ति कराने वाला है। अतः हे भव्यो! इस प्रकार की अद्भुत सामर्थ्य वाले परमेष्ठी मंत्र का बारम्बार जप करो। यह नमस्कार महामन्त्र जन्म-मरण के जंजाल से जीवों को मुक्त करनेवाला है।

नमस्कार-मन्त्र के सम्बन्ध में

मन्त्र की महत्ता

"मननात् त्रायते यस्मात् तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्तितः"

भारत के किसी प्राचीन महर्षि ने "मन्त्र" शब्द की इस व्युत्पत्ति के द्वारा मन्त्र की महत्ता पूर्ण रूप से व्यक्त कर दी है, साथ ही मन्त्र-योग की साधना-प्रक्रिया का बीज भी हमें प्रदान कर दिया है। मन्त्र-साधना में 'मूल' तथ्य है—'मनन'—अर्थात् मन्त्र की भावना और अक्षरों के साथ तादात्म्य। भावना और अक्षर के साथ तादात्म्य ही मन्त्र की सार्थकता है और यही उसकी विराट् शक्ति है जिसके बल पर मन्त्र असाध्य को भी साध्य कर देता है, अप्राप्य को भी प्राप्त कर देता है और इष्ट-सिद्धि में सहायक होता है।

भारतीय मनीषियों ने नाना रूपों में साधना करते हुए नाना मन्त्रों के रूप मे मानवीय शक्ति के असीम स्रोतों के साथ अपने को सम्बद्ध कर लिया है। यही कारण है कि यहां विभिन्न सम्प्रदायों के विभिन्न मन्त्र है और प्रत्येक

मन्त्र के द्वारा किसी देव विशेष की दिव्यात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़कर उसके द्वारा अभीष्ट कार्यों को सिद्ध किया जाता है। जैसे वैदिक परम्परा में गायत्री मन्त्र है। महर्षि विश्वामित्र ने इसकी ऐसी अक्षर-योजना की है कि उसके द्वारा साधक की आत्मा सूर्य-तेज के साथ तादात्म्य स्थापित करके अपनी अभीष्ट पूर्ति करती है। शैवों का मन्त्र "ॐ नमः शिवाय" है जिसका उच्चारण करते हुए शैव अपने को शिव-शक्ति से सम्बद्ध कर लेता है। वैष्णव "ॐ नमो नारायणाय" का उच्चारण करते हुए नारायण रूप जलीय शक्ति के साथ अपने को सम्बद्ध करके अपने मनोरथ-पूर्ति के मार्ग को प्रशस्त करता है।

कहते हैं महर्षि बाल्मीकि को नारदजी ने 'राम' मन्त्र दिया था, परन्तु बाल्मीकि 'राम' के स्थान पर 'मरा-मरा' जपते हुए वे पूर्ण-काम सर्व-समर्थ महर्षि बन गए। क्योंकि 'राम' यह भी एक मन्त्र है और मन्त्र का कोई अर्थ हो ही यह आवश्यक नहीं, क्योंकि मन्त्र ध्वन्यात्मक होता है और प्रत्येक ध्वनि में और उस ध्वनि के प्रकम्पनों में वातावरण, भावना और विचारों को बदलने की अद्भुत क्षमता होती है। यही कारण है कि भारतीय मनीषी शब्द को 'ब्रह्म' कहते हैं—ब्रह्म विराट् है—ध्वनि की विराटता विज्ञान-सम्मत है, क्योंकि ध्वनि सेकिण्डों में लाखों मीलों का फासला तय करते हुए ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर लेती है।

आज के जड़ीय विज्ञान में ध्वनि को विद्युत का एक रूप माना गया है, परन्तु भारतीय तत्त्व-वेत्ता विद्युत् को भी ध्वनि का ही एकरूप मानते हैं, मूल विद्युत नहीं ध्यनि है। मन्त्रोच्चारण करते समय साधक के रोम-रोम से ध्वनि की विद्युत रूप धारा चारों ओर फैलने लगती है। विशेष साधक जो साधना के रहस्य-सिन्धु की गहराइयों तक पहुंच जाते हैं वे विभिन्न आसनों एवं विभिन्न मुद्राओं द्वारा ध्वनि अर्थात् शारीरिक विद्युत-धारा को इस प्रकार नियन्त्रित कर लेते है कि जैसे गहन अन्धकार में सहसा बिजली के चमकने से सब कुछ प्रत्यक्ष हो जाता है, वैसे ही उनके सामने सार्वभौम सत्य अपने समग्र रूप में एक साथ प्रकट हो जाता है, इसी को वैदिक परम्परा 'पूर्णमद: पूर्णमिद' आदि रूपों में पूर्ण ज्ञान कहती है और जैन परम्परा उस समग्र सत्य के साक्षात्कार को केवल ज्ञान कहती है। इस केवल ज्ञान और पूर्ण ज्ञान के मूल में जो ध्वन्यात्मक विद्युत-प्रवाह है उसका मूल स्रोत मन्त्र ही है।

जिस प्रकार रेडियो यन्त्र में तारों को विशिष्ट विधि से सयुक्त कर देने पर उनमें ध्वनि-प्रसारण की क्षमता जागृत हो जाती है, ठीक उसी प्रकार मानवीय शरीर में भी प्रकृति ने नसों-नाड़ियों और शिराओं आदि को इस प्रकार से परस्पर सम्बद्ध किया हुआ है जिससे उनमें ध्वनि-नियंत्रण ध्वनि-प्रसारण और ध्वनि-उत्पादन आदि की सर्व क्षमताएं

विद्यमान हैं। जिस प्रकार औषधियों मे रोग-नाशक शक्ति होती है, परन्तु वह शक्ति विभिन्न उपायों विधियो और अनुपानों से विविध कार्य करने लगती है, इसी प्रकार प्रत्येक मन्त्र की विशिष्ट अक्षर-योजना से शारीरिक विद्युत-धारा जो महापुरुषो के मस्तक के आस-पास आभा-मण्डल के रूप में रहती है, शरीर के विभिन्न अंगों से प्रवाहित होने लगती है, फिर उसके द्वारा स्वेच्छा से अनेक कार्य कराए जा सकते हैं। यही कारण है कि विशिष्ट साधना-सम्पन्न महासाधक मन्त्र-साधना द्वारा जो शक्ति प्राप्त करते हैं, जिसे सिद्धि या लब्धि कहा जाता है, उसके बार-बार प्रयोग का निषेध किया गया है, क्योंकि सांसारिक कार्यों मे उसके अपव्यय हो जाने से आत्मोद्धार के प्रयत्नों में शिथिलता आ जाती है।

मन्त्र-योग में 'ध्वनि' ही प्रमुख है, अत: मन्त्रो में अर्थ पर ध्यान न देकर ध्वनि-योजना की विशेष विधि ही अपनाई जाती है। यही कारण है कि मन्त्र-निष्ठ बहुत सी ध्वनियों का कोई अर्थ नही होता। महामन्त्र ॐ का कोई अर्थ नही, मन्त्र शास्त्रियों के बीज मन्त्रों (ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, ह्रौ ह्रः, अ सि आ उ सा आदि) का कोई अर्थ नही होता, वे केवल ध्वनि-प्रकम्पन के लिए प्रयुक्त होते हैं। जब भगवान महावीर जैसे उत्तम पुरुष 'मन्त्र-शक्ति' पर अधिकार कर लेते हैं—तो उनके शरीर ध्वन्यात्मक विद्युत् के केन्द्र बन जाते है ऐसी प्रभावशील विद्युत के जिसके प्रभाव से कोई भी प्रभावित

हुए बिना नही रह सकता । उसी विद्युत् के प्रभाव से अपने समवसरण में वे विचार-प्रेषण की क्रिया प्रयुक्त करते है, उनकी सन्निधि मे आकर किसी का हृदय-परिवर्तन न हो यह हो नहीं सकता, अत: एक ही समवसरण में अनेक भव्य जीव संसार से विरक्त होकर दीक्षा के लिए प्रस्तुत हो जाते थे, वे किसी को संसार-त्याग की प्रेरणा नही देते थे, उनकी तपोमयी विद्युत-धारा सबके लिए स्वय ही प्रेरिका शक्ति बन जाती थी । रोहिणेय चोर था, उसके पिता ने कहा था— महावीर जहा बैठे हो वहां से मत निकलना, उनका शब्द मत सुनना । वह सदा बचता रहा, परन्तु एक दिन भूल से वह समवसरण के पास से गुजरा, कुछ शब्द कान में पड़ गए, बस सहसा रूपान्तरण हुआ, उसका दिल बदल गया और रोहिणेय एक महान् सन्त बन गया । वस्तुत: महावीर दिव्य शक्ति के ऐसे महास्रोत थे जिनका शरीर एक दिव्य तेज का केन्द्र बन गया था, उनके शरीर की ध्वनि-तरंगो के प्रवाह मे जो भी आया वही उनका बन गया । इसलिए प्राचीन कथानक कहते हैं—जहां अहिंसा-पुरुष विराजमान हो जाते है, वहा सब जीव पारस्परिक सहज वैर का भी परित्याग कर देते है ।

यह ठीक है कि आज कल ऐसे विद्युत्-यन्त्र भी आविष्कृत हो गए हैं जो दूसरों को प्रभावित कर सकते हैं, परन्तु उनकी विद्युत्-धारा के पीछे जड़ता है चेतना नही है ।

महापुरुषों की शारीरिक विद्युत्धारा के पीछे उनकी तपः-पूत चेतना का प्रभाव होता है, अतः महापुरुषो की विद्युत्-धारा मानवीय चेतना को महान् बना देती है।

महापुरुषों की शारीरिक विद्युत् उनके शरीर का इतना रूपान्तरण कर देती है कि उनके शरीर दिव्य गन्ध से ओतप्रोत हो जाते है। यह विद्युत्धारा ही अष्ट प्रतिहार्यों के रूप मे उपस्थित होती है—उनकी विद्युत्धारा 'अशोक वृक्ष' बन जाती है, वे जहां बैठते हैं वहा की धरती स्वर्ण-सिंहासन प्रतीत होने लगती है, उनके शरीर से निकलती श्वेतविद्युत्-धारा चवरों की प्रतीति कराती है, उनके मस्तक से प्रवाहित होती हुई विद्युत्-धारा छायाकार बन कर उन पर छा जाती है, उनके चारो ओर ध्वनि-तरंगे ऐसी ध्वनियां उत्पन्न करती है जो देव-दुन्दुभि प्रतीत होती है, चारों ओर पुष्प-वर्षा का आभास होने लगता है, उनके मुख के चारो ओर आभा-मण्डल के रूप में उनका विद्युत-प्रवाह एक वर्तुल बनाकर चमचमाता रहता है और उनकी भाषा विभिन्न भाषा-भाषियों के पास उनकी भाषा में परि-वर्तित होकर ऐसे ही पहुंचती है जैसे आधुनिक जड़ विज्ञान राबट द्वारा वक्ता की भाषा को श्रोता की भाषा में परिणत करके पहुंचाता है, परन्तु राबट की शक्ति कुछ भाषाओं तक सीमित होती है और 'तीर्थङ्कर' पद-प्राप्त महापुरुषो की ध्वनि-तरगो के पीछे चेतना का दिव्य प्रकाश रहता है, अतः

उनकी भाषा सभी भाषाओं का रूप धारण करके श्रोता तक पहुंच जाया करती है ।

'अरिहन्त' सर्व-जन-हितकारी होते है, अत: वे अपनी दिव्य शक्ति से सभी को रूपान्तरित करके धर्म-मार्ग का पथिक बनाने के लिये सर्वत्र विहरणशील रहते है, इसीलिये वेद का ऋषि भी 'चरैवेति' 'चरैवेति' का गान करते हुए विहरणशील रहने का आदेश देते है ।

श्रुत और मन्त्र :

मन्त्र अक्षर समूह है और अक्षर ध्वन्यात्मक होता है, ध्वनि के उच्चारण की एक विशिष्ट पद्धति होती है, जिससे वह शरीर के विभिन्न संस्थानों को जिन्हें योग-साधना की भाषा मे चक्र कहा जाता है उन्हें विशिष्ट रूपों में प्रभावित कर सके । जैन-संस्कृति किसी ईश्वर पर भरोसा नही रखती, उसे विश्वास है अपने आत्मबल पर । यह आत्मबल विशिष्ट रूप से उच्चरित अक्षर-उच्चारण पर निर्भर होता है, अतएव आगमों को श्रुत-रूप मे ही रखने का आग्रह किया जाता था, क्योंकि लिखित ध्वनि-संकेतों को लोग उस रूप में उच्चरित नही कर सकते जो उसके उच्चारण की विशिष्ट पद्धति है । यही कारण है कि गुरु-मन्त्र कान मे सुनाए जाते थे—अर्थात् गुरु शिष्य के कान मे मन्त्र का उच्चारण ऐसी विशिष्ट ध्वनि-संचारण की प्रक्रिया के साथ करता था जिससे वह उच्चारण की प्रक्रिया को ठीक प्रकार से समझ सके ।

नवकार मन्त्र :

महामन्त्र नवकार के प्रथम पांच पदों को पच परमेष्ठी कहा जाता है और इस पञ्च परमेष्ठी की महिमा का विस्तार ही कर रहे है समस्त आगम। तो निश्चित ही इस मन्त्र-समूह की अक्षर-योजना में और भाव-योजना मे कोई विशिष्ट विधि अपनाई गई है जिससे यह मन्त्र अचिन्त्य एव असीम शक्ति का उद्गम-स्रोत बन गया है।

सर्व प्रथम इस मन्त्र की यह विशेषता है कि इस मन्त्र के द्वारा किसी एक विशिष्ट आत्मा के साथ भावात्मक सम्बन्ध नही जोड़ा गया, इस मन्त्र द्वारा साधक लोक और अलोक में स्थित उन सभी आत्माओ के साथ भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करता जाता है, जिन्होने साधना के क्षेत्र में चलते हुए साधना के उच्चतम शिखरो का स्पर्श कर लिया है, अत: यह निश्चित है कि नवकार मन्त्र के साधक को इस मन्त्र द्वारा सभी प्रकार की सहायता उपलब्ध हो जाती है।

इस मन्त्र की साधना-प्रक्रिया पर गम्भीरता से विचार करने पर ज्ञात होता है कि मन्त्र-साधक सर्व प्रथम उन दिव्यात्माओ तक पहुचता है जिनके लिये कुछ छोड़ना शेष नही रहा, काम-क्रोधादि त्याज्य सभी विकारो से जो मुक्त हो चुके है, अरिहन्त के लिये 'अरित्व' समाप्त हो जाता है, अत: उसको किसी से भी लड़ना नही पड़ता, वह ऐसे समता-शिखर पर विराजमान हो जाता है जहां

सिद्धत्व की प्राप्ति के अतिरिक्त कुछ शेष नही रह जाता।

'अरिहन्त' को नमस्कार किया गया है—ऋषभदेव को नहीं, अजितनाथ को नहीं, महावीर को नहीं, क्योंकि जैन दृष्टि मे विकार-मुक्त होकर जैनेतर वेषयुक्त साधक भी तो अरिहन्त हो चुके है, अत: अरिहन्त को नमस्कार सर्वस्पर्शी विराट् नमस्कार है।

'अरिहं' (अर्हं)में सर्व प्रथम जो 'अ' अक्षर है वह ध्वनि का आदि स्रोत है और वह पृथ्वी-तत्त्व का सूचक माना गया है। 'र' यह अग्निबीज है, इस अक्षर की ध्वनि तेजस् तत्त्व को जागृत करती है और 'ह' यह आकाश-बीज है। इस प्रकार 'अरिहं' का उच्चारण एक यान्त्रिक प्रक्रिया से सम्बद्ध ध्वनि-प्रक्रिया है जो साधक आत्मा को पृथ्वी से मुक्त करती है, तेज से संयुक्त करती है और आकाश अर्थात् लोक की सीमा तक पहुंचाती है। इस प्रकार साधक अपनी विराट् सत्ता से परिचित हो जाता है।

'अ' का उच्चारण कण्ठ-विवर को खोल देता है, 'र' का उच्चारण मूर्धा मे कम्पन जागृत कर ध्वनि अर्थात् मस्तिष्क में केन्द्रित विद्युत-धारा को कम्पित करता है और फिर 'ह' के उच्चारण के साथ उस विद्युत्-धारा के प्रवाह के साथ आन्तरिक विकारों को कण्ठ-नलिका के खुले प्रयोग द्वारा बाहर निकाल देता है।

'अरिहं' छन्दशास्त्र के अनुसार यह सगण है और

"देशाटनं सोऽन्त्यग:" के सिद्धान्तानुसार सगण लम्बी यात्रा का विधायक माना जाता है। इस प्रकार साधक की आत्मा 'नमो अरिहन्ताणं' कह कर साधना-पथ पर यात्रा करके बढ़ते हुए सिद्धत्व के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेती है। यही कारण है कि 'अरिहन्त' सिद्धत्व तक पहुंचने का माध्यम एवं आश्रय होने से उसे पहला स्थान दिया गया है।

'नमो सिद्धाण' कह कर मन्त्र-साधक सिद्धो के साथ अपने तादात्म्य की भावना को जागृत करता है और इस प्रकार उस महान् विराट् शक्ति के साथ पुन: अवतरण-प्रकिया को अपनाता हुआ पहले आचार्यों को, फिर उपाध्यायों को और फिर साधुओं को नमस्कार करके दिव्य शक्ति के अवतरण की प्रक्रिया को पूर्ण कर अपनी ध्वन्यात्मक विद्युत-धारा को एक सामूहिक विराट् शक्ति के साथ सम्बद्ध करके स्वयं भी विराट् बन जाता है—आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया को पूर्ण कर लेता है। अत: पंच परमेष्ठी की जप-प्रक्रिया विराट् साधना का महत्त्वपूर्ण रूप है।

जैन साधना किसी देवता का नहीं देवत्व का आत्मा में अवतरण स्वीकार करती है, अरिहन्त से यात्रा आरम्भ करके साधुत्व पर पूर्ण हुई यात्रा विराट् शक्ति का अवतरण ही तो है।

यहां यह भी स्मरणीय है कि 'अरिहं' पृथ्वी और आकाश के बीच में 'र' इस अग्नि बीज को स्थापित करता

है, क्योंकि अग्नि का स्वभाव ऊपर उठना है। अग्नि-शिखा सदा ऊपर ही उठती है, अतः इससे सम्बद्ध होकर मानवीय चेतना ऊर्ध्वगामिनी बन जाती है। यही कारण है कि जैन संस्कृति ही जल के कम से कम प्रयोग का आदेश देती है, क्योंकि अग्नि के साथ जल का मेल नही बैठता है। यही कारण है कि जैन साधु के लिए स्नान तक का विधान नहीं है, उसे शीतल नहीं होना, उसे तपना है, उसने 'अग्नि' तत्त्व के साथ ऊपर जाना है। संसार की कोई भी संस्कृति व्रतोपवास मे पानी का निषेध नही करती, तेजस्-तत्त्व प्रधान जैन सस्कृति ने ही जल-रहित उपवास के तप का विधान किया है। जैनो के सभी तीर्थ रूखे-सूखे पहाड़ों पर है, नदियों के किनारे नही, क्योकि 'र' रूप विद्युत्-धारा के साथ जुड़ कर ऊचे उठने के प्रयास मे निम्नगामी स्वभाव वाला जल वाधक तत्त्व ही सिद्ध होता है। यही कारण है कि जप-गणना के समय अग्नितत्त्व-प्रधान लौगों के प्रयोग की परम्परा जैन सस्कृति को मान्य है।

जप के नाना रूप

नवकार मन्त्र की मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र इन तीनों रूपों में साधना की जाती है। सर्व प्रथम मन्त्ररूप में इसके जप को आवश्यक माना गया है। अरिहन्त को नमस्कार करके साधक अरिहन्त के चरणों में अपने को समर्पित करके अहं से शून्य हो जाता है। अहं-शून्यता की अवस्था में ही तो

विराट् शक्तियों के साथ तादात्म्य हो सकता है। अतः अहं-कार शून्यता के विस्तार के लिए प्रत्येक पद के साथ 'नमः' शब्द का प्रयोग किया गया है, 'नमः'—अर्थात् नमस्कार समर्पण और शून्यता का ही विधायक है। 'नमः' कहते ही 'न मैं' की भावना का उद्भव हो जाता है।

जब मन्त्र-साधक अहकार-शून्य होकर अरिहन्त से लेकर साधुत्व तक बार-बार मानसिक यात्रा करता है, तब उसका मन स्थिर होने लगता है, उसे निर्विचारता की स्थिति जिसे समाधि भी कहते है—प्राप्त होने लगती है। जैसे बार-बार के घर्षण से हाथ में गाठें पड जाती हैं और गांठ वाला स्थान संज्ञा-शून्य हो जाता है, इसी प्रकार बार-बार की यात्रा से मानसिक आवरण घिस कर टूटने लगते हैं, मन स्थिर एवं बाह्य संसार के आकर्षणो और स्मृतियों से शून्य होकर अरिहन्तत्व तक पहुंचने का एक वर्तुल प्रस्तुत कर लेता है। इस वर्तुल मे स्थित हो जाने पर वह स्थिति आ जाती है जब जप किया नही जाता अपितु होने लगता है, स्वतः होनेवाले इसी जप को 'अजपाजाप' कहा जाता है। इसी वर्तुल को बनाने के लिये ही अखण्ड जप की प्रक्रिया का आरम्भ किया गया है।

अखण्ड जप में सामूहिक साधना होती है, वैयक्तिक साधना नहीं, क्योकि नवकार मन्त्र अरिहन्त से लेकर साधु तक बहुवचन का प्रयोग करते हुए अनेक भव्य आत्माओं

के साथ तादात्म्य स्थापित करती है ऐसी दशा में अनेक का एक के साथ सम्बन्ध साधना मे भारी हो जाता है। जब सामूहिक जप किया जाता है—सामूहिक प्रार्थना की जाती है, तब व्यक्ति का 'अह' सर्वथा बिगलित हो जाता है, तब अनेक के साथ अनेक का सम्बन्ध विराट्शक्ति के अवतरण के लिये उपयुक्त वातावरण उपस्थित कर देता है, अत: अखण्ड जप और सामूहिक साधना का आरम्भिक अवस्था में विशेष विधान है। इसी दशा को स्थविर-कल्पी दशा कहा जाता है। जब आत्मा विशाल हो जाय, अनेक भव्य एव दिव्य आत्माओ के सान्निध्य को सहन करने में समर्थ हो जाय उस अवस्था में वैयक्तिक साधना की जाती है। वैयक्तिक साधना की उन्नततम अवस्था को ही 'जिनकल्प' कहा गया है।

बात तो ध्वनि अर्थात् विद्युत्-धारा के प्रवाह और नियन्त्रण की है। रशियन वैज्ञानिकों ने अब इस विद्युत् के फोटोग्राफ लेने वाले कैमरे भी तैयार कर लिये है। इस विद्युत्-प्रवाह के विविध रंगो द्वारा शरीर मे उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के रोगो और मानसिक विकृतियों का सूक्ष्म अध्ययन किया जा रहा है, जैसे कि आभामण्डल की नीलिमा शरीर के रोगो और मन की कलुषित भावनाओ की सूचना देती है, विद्युत्-धारा की लालिमा क्रोधावेश आदि का परिज्ञान कराती है। मै समझता हूं शरीर के

इस प्रमुखतम तत्त्व का जैन मनीषियों ने अध्ययन करके उसे ही शुक्ल लेश्या, पद्मलेश्या, कपोत-लेश्या, कृष्णलेश्या आदि का नाम दिया था। महावीर जैसे सर्वज्ञ उत्तमपुरुष लेश्या-दर्शन के आधार पर अपनी दिव्य दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति की मनोदशा का तुरन्त ज्ञान प्राप्त कर लेते थे।

विद्युत-धारा की पावनता और नियंत्रण और उससे अभीष्ट कार्य कराने के लिए साधक उसका ऐसा प्रयोग करता है जिससे वह शरीर से बाहर न जाकर शरीर के अन्दर ही कार्य रत रहे और आवश्यकता पड़ने पर उसे बाहर भी निकाल दिया जाय। इसके लिये विविध आसनों का विधान किया गया है। प्राय: देखा जाता है कि साप आदि लम्बे आकार के जीव लम्बे रहकर अपनी सुरक्षा नही कर पाते, वे सुरक्षा के लिए कुण्डलाकृति में अपने शरीर को परिणत कर लेते हैं। यह ओज की सुरक्षा और नियन्त्रण का अमोघ उपाय है। सर्प कुण्डल मार कर ही अपने फनो को फैला सकता है, लम्बाकृति मे नहीं, क्योंकि उस दशा मे वह अपने शरीर की विद्युत-धारा का ऐसा वर्तुल बना लेता है जिससे वह अपने शरीर की समस्त चेतना को फणों में केन्द्रित कर लेता है।

जप के समय सिद्धासन, कुक्कुटासन- पद्मासन, गोदुहासन आदि भी इसी आशय से प्रयोग में लाये जाते हैं। जब जप करते हुए हमारी चेतना विद्युत-वर्तुल के साथ तादात्म्य कर लेती है तो मानसिक एकाग्रता अनायास ही हो जाती है।

जब बच्चे चक्राकार झूले पर झूलते हैं तब उनका मन झूले तक ही सीमित रहता है, क्योंकि चक्राकारिता एकाग्रता मे सहायक होती है। अतः नवकार मन्त्र के जप के लिए भी विशेष आसनो के प्रयोग का विधान है। अरिहन्त से लेकर साधु तक पुन. पुन. आरोहण-अवरोहण की प्रक्रिया के रूप में ध्वनि का भी एक वर्तुल बन जाता है, उससे भी मन की एकाग्रता मे सहायता मिलती है।

जब विद्युत-प्रवाह तेज हो जाय तब शरीर को वोसरा कर--अर्थात् कायोत्सर्ग करके खड़े होकर ध्यान करते हुए जप करने से हमारी विद्युत-धारा पृथ्वी और आकाश की ओर सीधे प्रवाहित होती हुई अनावश्यक तत्त्वो को शरीर से बाहर फैक देती है। अतः कायोत्सर्ग-मुद्रा मे जप का एक विशेष महत्त्व है।

नवकार मन्त्र का यन्त्र के रूप मे भी प्रयोग होता है। यह एक प्रकार की त्राटक-क्रिया है, इससे साधक मानसिक एकाग्रता और ध्यान की एक-तानता का अभ्यास करता है। आनुपूर्वी यन्त्रात्मक नवकार मन्त्र के जप का ही एक रूप है।

इसी प्रकार अष्टदल कमल के रूप मे भी नवकार मन्त्र की साधना की जाती है। सर्वप्रथम कमल के मध्य मे कर्णिका एवं किंजल्क स्थानीय केन्द्र मे 'नमो अरिहंताण' लिखा जाता है। फिर उत्तर पूर्व, दक्षिण और पश्चिम की पखुड़ियो मे क्रमश. नमो सिद्धाण, नमो आयरियाण, नमो उवज्झायाण, नमो

लोए सव्वमाहूण लिख कर, फिर ईशान कोण की पंखुड़ी मे लेकर प्रत्येक कोण मे फलश्रुति की गाथा के चारो पद लिखे जाते हैं। इस प्रकार परमेष्ठियो के वर्ण के अनुसार इस यन्त्र मे रगो की भी योजना की जाती है।[1]

पहले यह पदस्थ ध्यान के रूप मे बाह्य प्रक्रिया है, फिर धीरे-धीरे हृदय-प्रदेश मे अवस्थित अष्टदल कमल नामक चक्र मे इस प्रकार का पदस्थ ध्यान करते हुए साधना की उच्चतम दशा को प्राप्त किया जाता है।

श्वेताम्बर मूर्ति पूजक के सम्प्रदाय मे वासक्षेप के रूप मे नवकार मन्त्र के साथ तन्त्रात्मक प्रयोग भी होता है और वासक्षेप के अनेक सुपरिणाम प्रत्यक्ष देखे गए है। वासक्षेप मे केसर कस्तूरी आदि द्रव्य अग्नितत्त्व प्रधान ही होते है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि नवकार मन्त्र एक ऐसी ध्वन्यात्मक विद्युत-धारा है जो लौकिक एव अलौकिक सभी कार्यो मे सहायक हो सकती है, अत इसका निरन्तर जप सब प्रकार से सिद्धिदाता है।

१. अष्टपत्रे सिताम्भोजे कर्णिकायां कृतस्थितम्।
आद्यं सप्ताक्षर मन्त्रं, पवित्र चिन्तयेत् तथा॥
सिद्धादिक-चतुष्क च दिक्पत्रेषु यथा-क्रमम्।
चूला-पादचतुष्कञ्च, विदिक्पत्रेषु चिन्तयेत्॥
योगशास्त्र, प्रकाश आठ

प्रस्तुत ग्रन्थ

जैनधर्म-दिवाकर पजाब-प्रवर्तक श्रमण-श्रेष्ठ श्री फूलचन्द्र जी महाराज की तपस्विनी लेखिनी ने इस ग्रन्थ मे नवकार मन्त्र के प्रत्येक पद की जो विस्तृत व्याख्या की है उससे नवकार मन्त्र के स्वरूप का साक्षात्कार अनायास ही हो जाता है। जहा उनकी वैदुष्य-मण्डित लेखनी द्वारा अरिहन्तो एव सिद्धो के अलौकिक स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है, वहा आचार्य, उपाध्याय और साधु के स्वरूप के साथ-साथ उनके उन कर्तव्यो की भी विशद व्याख्या की गई है, जिनके उदात्त प्रयोग के बल पर वे नमस्करणीय और जपनीय हो जाते है।

आगमो मे पच पदो की विस्तृत व्याख्याए ढूढकर उनका स्वाध्याय करते हुए नवकार मन्त्र की महत्ता को जानना अत्यन्त श्रम-साध्य कार्य था। श्री श्रमण जी महाराज के तप शील महान् स्वाध्याय ने उस समस्त महत्ता को एक ही स्थान पर संकलित करके जैन जगत पर ही नही, प्रत्येक साधक पर महान् उपकार किया है। मै समस्त जैन जगत की ओर से इस ग्रन्थ का हार्दिक अभिनन्दन करते हुए श्री श्रमण जी महाराज के गहन अध्ययन के चरणो मे शत-शत वन्दन करता हू।

तिलकधर शास्त्री

प्रकाशकीय

जैन-धर्म-दिवाकर जैनागम-रत्नाकर श्रद्धेय आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज की पावन तपस्थली लुधियाना के उपाश्रय का यह सौभाग्य है कि इसे शास्त्र-विशाद पण्डित-रत्न श्री हेमचन्द्र जी महाराज एव जैन-धर्म-दिवाकर पजाब-प्रवर्तक श्री फूलचन्द्र 'श्रमण' जी महाराज एवं विद्वद्रत्न श्री रतनमुनि जी महाराज के निवास का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है।

श्री श्रमण जी महाराज की स्वाध्यायशीलता, आगम प्रकाशन की लगन एव आगम-सम्मत लोकोपकारक शासन-प्रभावक ग्रन्थो को प्रकाशित करते रहने की भावना को करुणा-मूर्ति श्री रतनमुनि जी महाराज सर्वदा पूर्ण करते रहने का प्रयास करते ही रहते है। ऐसे ही महाप्रयास के फल के रूप में प्रकाशित हुई है यह 'नमस्कार मन्त्र' नामकी महत्वपूर्ण कृति।

इसके प्रकाशन का श्रेय श्री स्वर्णकुमार जैन, सुपुत्र श्री माणक चन्दजी जैन (स्वर्ण-ट्रेडिंग, लुधियाना) को है जिनके द्वारा दिए गए अर्थ-सहयोग से प्रस्तुत रचना प्रकाशित हो सकी है, अत. हम स्वर्णजीत जैन एव उनके समस्त परिवार के लिए अपनी मङ्गल-कामनाए समर्पित करते है।

प्रस्तुत कृति के आरम्भ मे श्री तिलकधर शास्त्री ने नमस्कार मन्त्र विषयक जो विद्वत्तापूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है हम इसके लिए उनके अत्यन्त आभारी है।

जसवन्तराय जैन, (प्रधान)

मूलराज जैन (मन्त्री)

आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना

अनुक्रमणिका

□ प्रथम प्रकाश १
मन्त्र क्या है ?
परमेष्ठी महामन्त्र
नमस्कार मन्त्र और उसका अर्थ
मन्त्र शब्द की व्याख्या
जप की विधि
जप और योग
जप और फलश्रुति
चौदह पूर्वों का सार १४
□ द्वितीय प्रकाश
चौतीस अतिशय
अरिहन्तों के बारह गुण
असाधारण बारह गुण
तृतीय प्रकाश ३३
सिद्धो के आठ गुण
सिद्धो के इकत्तीस गुण
सिद्धो में क्या-क्या नहीं
□ चतुर्थ प्रकाश ४६
कार्य-विभाग
पहले प्रकार के छत्तीस गुण
दूसरे प्रकार के छत्तीस गुण

तीसरे प्रकार के छत्तीस गुण
चौथे प्रकार के छत्तीस गुण
पांचवे प्रकार के छत्तीस गुण
छठे प्रकार के छत्तीस गुण
आचार्य के अन्य विशिष्ट गुण
आठ गणी सम्पदा
□ पचम प्रकाश ७७
शिक्षा के योग्य शिष्य
शिक्षार्थी के आठ गुण
उपाध्याय की अध्यापन-विधि
उपाध्याय बनाम बहुश्रुत
उपाध्याय के पच्चीस गुण
□ षष्ठ प्रकाश १०१
सम्यग्दर्शन का क्रमिक विकास
साधुता के भाव कैसे उत्पन्न होते है ?
साधु के सत्ताईस गुण
गुप्तिया
इन्द्रिय-निग्रह
कषाय-विवेक आदि
साधु और उसके पर्यायवाची शब्द
साधु की इकत्तीस उपमाएं
श्रमण की चौरासी उपमाएं
नमस्कार मन्त्र के सन्दर्भ मे ...
नमस्कार माहात्म्य □

पञ्च ते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मंगलम्

नमस्कार-मन्त्र

•

प्रथम प्रकाश

मन्त्र क्या है ?

'जप मानसे' इस धातु से जप शब्द बना है। जब भी किसी मन्त्र का मन से पुनः-पुनः स्मरण किया जाता है तब उस प्रक्रिया को जप कहा जाता है। जप साधक वर्ग ही करता है, सिद्ध वर्ग नहीं।

वीतराग प्रभु की आज्ञानुसार साधना करने वाले को ही साधक कहा जाता है। साधनाशील व्यक्ति साधक तभी तक कहलाता है जब तक कि वह लक्ष्यबिन्दु को प्राप्त करके कृतकृत्य नहीं हो जाता, और तभी वह साधना-पथ पर अविराम गति से चलता रहता है। दृढ़ साधक के समक्ष कोई भी विघ्न-बाधा चिरकाल तक टिक नहीं सकती और न उसे किसी तरह

के भय एवं प्रलोभन साधना-पथ से विचलित ही कर सकते है।

सम्यग्-दृष्टि आत्मा ही मोक्षमार्ग का पथिक हो सकता है। चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थान तक सभी जीव साधक माने जाते है। इसी कारण साधन-क्षेत्र सभी साधकों की मनोभूमिका में एक समान नही हो सकती, क्योकि मोह-कर्म का उदय, उपशम, क्षयोपशम सबका एक समान नही हो सकता। केवल क्षायिक भाव ही एक ऐसा भाव है जो सब में एक समान होता है।

नमस्कार मन्त्र श्रुतज्ञान है, इसका उद्भव केवल-ज्ञान से हुआ है, श्रुतज्ञान घातिकर्मो को नष्ट करने के लिए और केवल-ज्ञान उत्पन्न करने के लिए एक सफल साधन है, अतः नमस्कार मन्त्र का जप श्रुत-ज्ञान की ही आराधना है। श्रुतज्ञान का आराधक ही सच्चा साधक है।

साधक जिस लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है वह है सिद्धत्व की प्राप्ति, यही लक्ष्य सर्वोपरि है। देहमुक्त अवस्था के बिना ऐसी कोई गति या जन्म नही है जहा पहुंच कर दुखों से सर्वथा बचा जा सके। जब तक जीव के साथ आठ कर्म है, तब तक यह स्थूल देह मिलती ही रहेगी। स्थूल देह ही भोगायतन है। भोगायतन का अर्थ है जिसमे रहकर जीव शुभ-अशुभ कर्मो के फल रूप सुख-दु.ख की अनुभूति करता

है। औदारिक, वैक्रिय और आहारक ये तीन शरीर स्थूल कहलाते है। कार्मण और तैजस ये दो शरीर सूक्ष्म हैं। कर्मो का बध, भोग और क्षय स्थूल शरीर मे ही हुआ करते है, सूक्ष्म शरीर में नही। अत सर्व कर्मो से विमुक्त होना ही साधक का साध्य है। इसके अतिरिक्त भौतिक साध्य मिथ्यादृष्टि का होता है। उसके एक नही अनेक साध्य हो सकते है, जैसे कि पुत्र-लाभ, विनीता स्त्री की प्राप्ति, धन, बल, सत्ता, रूप, उत्तम जाति, उत्तम कुल, राज्य, स्वर्ग-प्राप्ति आदि। परन्तु ये साध्य सम्यग्दृष्टि के नही हो सकते।

जिसके बिना साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता, अथवा जो लक्ष्य-प्राप्ति में परम सहायक हो वह साधन कहलाता है। सम्यग्ज्ञान, सम्यक्श्रद्धा और सम्यक् चारित्र इन तीनो का समुदाय ही मोक्ष-प्राप्ति में सहायक है, अथवा अहिंसा, संयम और तप का समन्वय ही कर्मों से मुक्ति होने का साधन है, अथवा कायोत्सर्ग, मौन और ध्यान इनका सम्मिलित रूप ही साधन है, अथवा कर्म-योग, भक्ति-योग और ज्ञान-योग इनकी संतुलित आराधना ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन है, अथवा जीवो को अभयदान और धर्मदान, सदाचार, सयम, तप, इच्छाओ का निरोध, भावना, नमस्कार मत्र का जप, साधना के क्षेत्र मे आगे बढ़ने का उत्साह और पवित्र-सकल्प ये सब मोक्ष-प्राप्ति के अमोघ साधन हैं।

साधनों का यथाशक्ति एवं यथासम्भव प्रयोग करना मोक्ष-प्राप्ति में कारण है। जैसे दण्ड, चक्र, चीवर और कुम्हार ये घट के प्रति-निमित्त कारण है, जब वे कारण क्रियाशील होते है तब उन कारणो को करण कहा जाता है। वैसे ही जब साधन क्रियान्वित होते है तभी वे साधना को जन्म देते हैं। साधनों के उपयोग के बिना साधना का सम्पन्न होना असम्भव है।

परमेष्ठी महामन्त्र

आगम-शास्त्रों तथा मन्त्र-शास्त्रों मे पचपरमेष्ठी महामन्त्र का स्थान सर्वोच्च है। परमेष्ठी का अर्थ है वे महापुरुष जो सांसारिक विकारो वासनाओं एवं मोहममता की परिधि से ऊपर उठ गए हैं, जो आध्यात्मिकता के सुमेरु के शिखर पर अवस्थित हैं, जो अनन्त-अनन्त गुणों से प्रकाशित हैं।

परमेष्ठी मन्त्र के नव पद है, अत. इसे नवकार मन्त्र भी कहा जाता है। प्रत्येक पद के साथ 'नमो' का प्रयोग किया गया है, अतः इसे नमस्कार या णमोकार मन्त्र भी कहते हैं। सब मन्त्रों में प्रमुख होने से इसे महामन्त्र भी कहा जाता है।

नमस्कार मन्त्र और उसका अर्थ।

णमो अरिहंताणं—नमस्कार हो जीवन्मुक्त केवलज्ञानी अरिहन्त भगवान को।

२. णमो सिद्धाणं— नमस्कार हो परब्रह्म परमात्मा विदेह, मुक्त सिद्ध भगवन्तों को।

३. णमो-आयरियाणं—नमस्कार हो श्री संघ के नायक आचार्य प्रवरों को।

४. णमो उवज्झायाणं—नमस्कार हो आगम-वेत्ता-धर्मशिक्षक उपाध्यायों को।

५. णमो लोए सव्वसाहूणं--नमस्कार हो लोक में सभी उत्तम साधुओं को।

एसो पंच णमोक्कारो—इन पांच पदों को किया हुआ नमस्कार।

सव्व पावप्पणासणो—अठारह तरह के सभी पापों का विनाश करनेवाला है।

मंगलाणं च सव्वेसिं—जितने भी द्रव्य-मंगल एवं भाव-मंगल है उनमें।

पढमं हवइ मंगलं– नमस्कार मन्त्र प्रथम श्रेणी का मगल है।

इस मंत्र में किसी भी व्यक्ति का नाम नहीं है। यह गुणमूलक मन्त्र है, क्योकि श्रमण-सस्कृति मानव को व्यक्ति-पूजक नही, गुण-पूजक बनने के लिए सदा से प्रेरणा देती आ रही है। व्यक्ति-पूजा से ऊपर उठकर गुणों की

पूजा करनेवाली श्रमण-संस्कृति उन सभी आत्माओं को परम श्रद्धेय परमपूज्य एवं नमस्कार योग्य मानती है जिन्होने पांच में से किसी भी एक पद मे अवस्थिति प्राप्त करली है। श्रमण-संस्कृति के लिये वे सब इष्ट है, आराध्य हैं और वन्दनीय है।

मन्त्र शब्द की व्याख्या

विद्वानों ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है गुप्त रखने योग्य रहस्य की बात, गुप्त सलाह, वेद-वाक्य, वे शब्द या इष्ठ-सिद्धि या किसी देवता की प्रसन्नता के लिए जिसका जप किया जाता है, अथवा जिसका उच्चारण झाड़ फूंक करने वाले विष आदि का प्रभाव दूर करनेके लिए करते हैं, वह मन्त्र है। परन्तु यहां उन मन्त्रो से अभिप्राय नही है। जिन पदों का जप करने से आत्मा परमेष्ठी मे लीन हो जाए, तत्सम या तदरूप हो जाए, जिसके जप से मन एकाग्र हो जाए अथवा जो मनन-करनेसे जप करनेवाले की रक्षा करता है वह मन्त्र है। कहा भी है। **मननात् त्रायत इति मन्त्राम्**

कुछ मंत्र तो केवल लौकिक ही होते है। जिसको सर्व मन्त्रों में प्रथम श्रेणी प्राप्त है, वह है नमस्कार महामन्त्र। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इस मन्त्र की समानता रखने वाला कोई भी मंत्र नही है।

जप की विधि

जप तीन प्रकार का होता है, मानस-जप, उपांशु-जप और भाष्य-जप।

मानस जप

मनसे चिंतन करते समय जैसे ओष्ठ और जिह्वा में कोई क्रिया हिलने-चलने की नहीं होती वैसे ही जिस जप को केवल मन से ही किया जाए वाणी से नही, वह मानस-जप कहलाता है।

उपांशु जप

उपांशु जप वह कहलाता है जो जप मन्द-मन्द स्वर से किया जाए, जिस जप से अपने को ही मस्ती आए, दूसरे के लिए वह जप उद्वेग, विश्राम-बाधक एव मानसिक उथल-पुथल का कारण न बने।

भाष्य जप

जो जप पड़ोसियों को भी सुनाई दे, मनमें शांति एव आनन्द उत्पन्न करे। परन्तु किन्ही के लिये विश्राम-बाधक और उद्वेग का कारण भी बन सके वह भाष्य-जप है।

जिस जप से मन का पूर्ण सबंध नहीं जुड़ पाता वह जप नही जपाभास है। इनमे पहले प्रकार का जप सर्वोत्तम है, दूसरे प्रकार का जप उत्तम है, तीसरे प्रकार का जप सामान्य है और अकरणीय भी है।

जप जितना भी शान्तचित्त एकाग्र मन से किया जाए वह जप प्रत्येक दृष्टि से लाभदायक होता है। जप करते समय मुख पूर्व या उत्तर दिशा की ओर रखना उचित होता है। जप के समय अपने भावो को शुद्ध एव निष्काम रखना अनिवार्य है। अपनी ध्यानवृत्ति को आर्त्त एवं रौद्र ध्यान से हटाकर मन्त्र की ओर ही लगाना चाहिए।

जप आनुपूर्वी से भी हो सकता है, अनानुपूर्वी से भी, पश्चादनुपूर्वी से भी और पदस्थ-ध्यान से भी जप किया जा सकता है। यदि आनुपूर्वीरूप मे कण्ठस्थ रीति से जप हो तो वह मन की एकाग्रता के लिए अत्युत्तम होता है। जप के समय यदि महामन्त्र के प्रत्येक अक्षर की ओर ध्यान देकर पढा जाए तो वह मन की एकाग्रता के लिए विशेष साधक बन जाता है।

जप और योग

जैन-धर्म मे योग का भी महत्वपूर्ण स्थान है। जो साधक को आत्मा के साथ जोड़ता है, उसे आत्म-निष्ठ बनाता है वही योग है। श्रद्धा के रचनात्मक कार्य को भी योग कहा जा सकता है।

योग के तीन रूप है—कर्म-योग, भक्ति-योग और ज्ञान-योग। प्रत्यक्षरूप मे पूज्यभावो से या करुणाभाव से

आचार्य, उपाध्याय, नव-दीक्षित, स्थविर, रोगी, साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका तथा समाज की सेवा एवं वैयावृत्य करना कर्मयोग है।

परोक्षवर्ती परम श्रद्धेय पंच-परमेष्ठी के प्रति पूर्ण आस्था रखना, वाणी से जप एव स्तुति करना, अवर्णवाद न करना, शरीर से उनके दर्शन एवं वाणी सुनने का प्रयास करना, और उनकी विनय करना ही भक्ति-योग है।

नव-नव ज्ञान प्राप्त करने मे उपयोग लगाना, ज्ञान की आराधना मे सतत मन को जोड़ना, तत्त्व-चर्चा में रुचि रखना, निद्रा विकथा से सदा-सदा के लिए निवृत्त होकर स्वाध्याय मे समय-यापन करना ज्ञान योग है।

ज्ञान और दर्शन की परिपक्व अवस्था ही चारित्र है। ज्ञानयोग मे मन लगाने से अशुभ प्रवृत्तिया स्वतः ही नष्ट हो जाती है। जप भी भक्ति-योग का ही अविभाज्य अश है। वीतराग की भक्ति से साधक सामान्य साधना प्रारम्भ करता है और अत मे निरालब ध्यान की उच्च अवस्था मे पहुंच जाता है।

जप और फल-श्रुति

मानव की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह उस कार्य मे कभी भूल कर भी प्रवृत्ति नही करता जिस कार्य के फल

का उसे ज्ञान न हो जाय। कांटो की डाली में यदि फूल या फल न हों तो कोई भी व्यक्ति उनमें हाथ डालने के लिए तैयार नहीं हो सकता। कष्ट सहकर भी यदि उसे शुभ फल मिलने वाला हो तो वह सभी कष्टो को सहन करने के लिये भी तैयार हो जाता है।

किसी भी क्रिया का फल दो तरह का होता है। एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष, अथवा साक्षात् फल और परम्परा-फल। इष्टपूर्ति में आनेवाले सभी विघ्नों का नष्ट हो जाना अपने जीवन मे सदैव आनन्द-मगल रहना, दु:ख-दरिद्रता का दूर हो जाना इत्यादि सब प्रत्यक्ष फल है। यद्यपि चिन्तामणि काम-कुम्भ, कल्पवृक्ष, कामधेनु ये सभी पदार्थ लौकिक मनोरथ पूर्ण करनेवाले है, तथापि ये याचना करने के अनन्तर ही फल देने वाले हैं। महामन्त्र नवकार अचिन्त्य फल देने वाला है। जिसे महामन्त्र नवकार की प्राप्ति नही हो पाती उसे उच्च-स्वर्ग और अपवर्ग की प्राप्ति भी नही हो सकती। नवकार मन्त्र का जप करने वाला साधक चार गति चौरासी लाख योनियो के भव-भ्रमण से भी मुक्त हो जाता है। इस मन्त्र के जप के बिना दुर्गति का पूर्णतया अवरोध नही होता। यदि होता तो ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को सातवें नरक का अतिथि न बनना पड़ता।

महामन्त्र नवकार तो महाफल देनेवाला है। मनोरथ पूर्ण करने वाले चिन्तामणि आदि उत्तम पदार्थ इसी से प्राप्त

होते हैं। दुर्गति का अवरोध और सुगति की प्राप्ति होना भी इसी का सुपरिणाम है। बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती, तीर्थङ्कर इत्यादि उत्तम पद भी इसी के जप से प्राप्त होते हैं। नव-निधान, चौदह रत्न, स्वर्ग एवं अपवर्ग का प्राप्त होना भी पच परमेष्टी जप का ही फल है। इस संदर्भ मे निम्नलिखित गाथाएं विशेष मननीय है—

नवकार इक्क अक्खर,
पाव फोडेइ सत्त अयराण।
पन्नास च अयराण।
सागर-पणणसय सत्त समग्गेण।

जो गुणइ लक्खमेगं,
पूएइ विहीहि जिन नमुक्कार।
तित्थयर - नाम - गोयं,
सो बंधइ नत्थि सदेहो॥

अट्ठेव अट्ठसया अट्ठ -
सहस्स च अट्ठकोडीओ।
जो गुणइ भत्तिजुत्तो,
सो पावइ सासयं ठाण॥

अर्थात् श्री नवकार मन्त्र का एक अक्षर भी इतना समर्थ है कि वह सात सागरोपम के पापों को भी नष्ट कर देता है। इस का एक पद पचास सागरोपम के पापों को नष्ट

कर सकता है और पच-परमेष्ठी के समग्र पद पांच सौ सागरोपमों के पापों को नष्ट करनेवाले हैं।

जो मनुष्य श्रद्धा-भक्ति से मन को एकाग्र करके एक लाख बार महामन्त्र का स्मरण करता है या एक लाख बार चतुर्विंशति जिन-स्तुति एव वन्दन करता है वह निश्चय ही तीर्थङ्कर नामगोत्र कर्म का उपार्जन करता है।

जो मनुष्य विनय-भक्ति से महामन्त्र का जप आठ करोड़, आठ हजार आठ सौ आठ बार करता है वह निश्चय ही मोक्ष-पद को प्राप्त करता है।

चौदह पूर्वों का सार

फूलों का सार जैसे इत्र होता है, वैसे ही महामन्त्र नवकार समस्त श्रुत-साहित्य का तथा चौदह पूर्वगत श्रुत ज्ञान का सार है, क्योंकि ऐसा कोई आगम-शास्त्र या पूर्वगत श्रुत ज्ञान नही है जिसमे अरिहन्तों के गुणों का वर्णन न हो। सिद्ध परमातमा का विवरण न हो, आचार्यों उपाध्यायो और साधुओ के गुणो का एवं उनकी वृत्तियों का उल्लेख न हो। समस्त श्रुत-साहित्य मे आध्यात्मिकता की प्रधानता है, वैभाविक पर्यायो से निवृत्त होकर स्वाभाविक पर्याय मे अवस्थित होना ही आध्यात्मिकता है, वही पूर्वगत श्रुत का सार है। वर्णमाला मे जैसे स्वर और व्यंजन दो तरह

के वर्ण होते हैं और उन्ही वर्णो का विस्तार उस भाषा के समस्त साहित्य में होता है अथवा यो कहिए समस्त वाङ्मय में जितने भी वर्ण है उन सब का सार वर्णमाला है, वैसे ही पच-परमेष्ठी के गुणों का विस्तार ही सकल वाङ्मय है। दूसरे शब्दों मे सकल वाङ्मय का सार ही नवकार है। वर्णमाला में भी व्यजन की अपेक्षा स्वर साररूप है, उनके होते हुए सारे व्यजन सार्थक है और उनके बिना व्यंजन किसी भी अर्थ के बोधक हो सकते बनते, क्योंकि व्यजन के बिना स्वरों का अस्तित्व रह सकता है, किन्तु स्वर के बिना कोई भी व्यजन अर्थ का द्योतक नही बन पाता। अत. स्वर स्वतन्त्र है और व्यजन परतन्त्र। अत. दोनों तरह के वर्णो में स्वर साररूप है। महामन्त्र नवकार स्वर के समान समस्त शास्त्रों का सार है, इसी का सब शास्त्रों में विस्तार है और इसके जप से निश्चय ही साधक का उद्धार हो सकता है।

णमो अरिहंताणं

द्वितीय प्रकाश

जैनधर्म में या विश्वभर में महान् आत्माएं पाच मानी गई है, जैसे कि अरिहन्त, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और साधु। सभी धर्म-शास्त्रों में इन्ही की महिमा वर्णित है. ये पावन नाम किसी व्यक्ति विशेष के नही है। आन्तरिक गुणों के विकास से उपलब्ध होने वाले ये पाच महान् मगलमय पद हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध भौतिकता से नही केवल आध्यात्मिकता से है।

जैनधर्म विजय धर्म है, क्योकि आत्मा पर, इन्द्रियों पर, मन पर, विकारों पर, कषायों पर एवं वासनाओं पर विजय प्राप्त करना ही जैन धर्म का मुख्य लक्ष्य है। जैनत्व मोक्ष-प्राप्ति में बाह्य क्रिया-काण्डों की अपेक्षा अन्तरंग जागरण को अधिक महत्व देता है, आन्तरिक जागरण करने वाला भले ही कोई पुरुष हो या स्त्री, स्वलिंगी हो या अन्यलिंगी सबके लिए एकही शर्त है वह है और राग-द्वेष पर विजय।

जिन्होने आन्तरिक शत्रुओं को जीत लिया है या उन पर विजय प्राप्त कर ली है, या कर रहे हैं, उन सब साधना पथ के महापथिकों को नमस्कार के पांच पदों में गर्भित कर दिया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य कोई पद नमस्करणीय एवं वन्दनीय शेष नही रह जाता।

इन पाच पदो में सबसे पहले "**नमो अरिहंताणं**" कहकर इसके द्वारा उन्ही अरिहंतो को नमस्कार किया जाता है जिन्होने घाति कर्मो का सर्वथा क्षय कर दिया है।

यह सात अक्षरो का महामन्त्र है। मन्त्र शास्त्र के अनुसार यह सप्ताक्षरी मन्त्र विनय के सात भेदों की ओर सकेत करता हे, क्योकि विनय ही धर्म का मूल है—

"**विणयमूलो धम्मो**"

स्वाध्याय के द्वारा श्रुतज्ञान की आराधना करना, ज्ञानियों के प्रति श्रद्धा भक्ति बहुमान एव प्रीति रखना ज्ञान-विनय है।

हृदय में उत्पन्न सम्यग्दर्शन को उतरोत्तर विशुद्ध बनाना, सम्यग्दृष्टियों की संगति मे रहना, सत्-असत् को विवेक दृष्टि से अलग करना ही दर्शन विनय है।

संयम के प्रतिनिष्ठा रखना, उसका निरन्तर पालन करना, संयमियों के प्रति आस्था एव पूज्यभाव रखना ही चारित्र-विनय

मन, वचन और काया को अशुभ-प्रवृत्तियों से हटाकर शुभ मे लगाना, क्रमश: मन-विनय, वचन-विनय और काय-विनय है।

पूज्यजनों के पास रहना अभ्यास में प्रवृत्ति रखना बड़ों की इच्छानुसार कार्य करना, ज्ञान-प्राप्ति के हेतु गुरुजनो को साता पहुचाना, उनके द्वारा कि ये हुए उपकारों का यथाशक्य ऋण उतारना, उनके प्रति हृदय से कृतज्ञ बनकर रहना एव दूसरे का ध यवादी होकर रहना, दुखित प्राणियों की सार-सम्भाल करना, देश एव काल देखकर कार्य करना, सब कार्यो में गुरु महाराज के अनुकूल प्रवृत्ति करना इत्यादि समस्त प्रवृत्तियो को लोकोपचार-विनय कहा जाता है। ज्ञान-विनय दर्शन-विनय, चारित्र-विनय मन-विनय, वचन-विनय, काय-विनय और लोकोपचार-विनय विनय के इन सात भेदों में ही धर्म का सर्वस्व निहित है। अरिहन्त भगवान धर्म के साक्षात् रूप होते हैं, अत. इस सप्ताक्षरी मन्त्र मे विनय रूप धर्म के साक्षात् दर्शन किये जा सकते है।

भगवान् अरिहन्त मोक्षमार्ग के प्रदर्शक होते हैं। उनका प्रवचन भव्य प्राणियो को मोक्ष मार्ग-दिखाने मे प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करता है। अत: यह सप्ताक्षरी मन्त्र विनय के सात भेदों की आराधना-पालना करने के लिये प्रेरित करता है।

अरिहन्त पद जीव को जीवन में एक ही बार प्राप्त होता है, पुन:-पुन: नही। उसका क्रमिक विकास इस विधि से होता है—

प्रत्येक मानव में मानवता का विकास थोडा या बहुत होता ही है, किसी में उसका पूर्ण विकास हो जाता है और किसी मे कम। जिन गुणो से मानव वस्तुत मानव कहलाता है, उस गुण-समूह को मानवता कहा जाता है। वह मानवता जब दैवी सम्पत्ति अर्थात् दिव्य गुणों की परिधि मे प्रविष्ट हो जाती है तब वह मानवता दिव्य गुणो की महाज्योति बन जाती है। जब आत्मा के अनन्त-अनन्त गुण अपने आप मे नि:सीम एवं असीम हो जाते है, तब वे दिव्यगुण परमात्म-ज्योति मे मिलकर सदा-सदा के लिए अनन्त एवं अक्षय हो जाते है, फिर कभी उन गुणों का ह्रास नही हो पाता। इसी अवस्था मे दिव्य मानवता अक्षय गुणो का सहारा लेकर अरिहन्त पद पर प्रतिष्ठित हो जाती है, अत: नमस्कार के पाच पदो मे अक्षय गुणनिधान विश्व-वत्सल, विश्व-हितकर अरिहन्त भगवान् को सर्व प्रथम नमस्कार किया गया है।

कर्म-शत्रुओं के विजेता ही अरिहन्त कहलाते हैं, क्योंकि बाह्य भूमिका में जितने भी प्रपञ्च खड़े होते है उन सब में चार घाति कर्म रूप अन्त:-शत्रु ही मुख्य कारण है। जैसे कि ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म। जिन आत्म-ज्ञानियों ने चार घाति कर्मों का

सर्वथा क्षय करके केवलज्ञान, एवं केवलदर्शन प्राप्त कर लिया है, वे ही **अरिहन्त** होते है, अथवा विश्व में जितने भी इन्द्र, नरेन्द्र एवं असुरेन्द्र है उन सब के जो पूजनीय, प्रशंसनीय एवं वन्दनीय है, उन्हें **अरहन्त** कहते हैं।

अथवा जिनकी पुनर्जन्म की परम्परा समाप्त हो चुकी है उन्हें **अरुहन्त** कहा जाता है।

एक ही आत्मा में अरिहन्त, अरहन्त, अरुहन्त, ये तीन पद घटित हो जाते हैं, क्योंकि जो कर्म-शत्रुओं के विजेता है वही तीन लोक के वन्द्य, पूज्य एवं स्तुत्य होते हैं, और वही जन्म-मरण की परम्परा को समाप्त कर पाते है।

जो आत्माएं अठारह दोषों से सर्वथा रहित है, वे ही अरिहन्त पद को प्राप्त करती है। वे अठारह दोष निम्न-लिखित है।

१. प्राणातिपात, २. मृषावाद, ३. अदत्तादान, ४. क्रीडा, ५. हास्य, ६. रति, ७. अरति, ८. शोक, ९. भय, १०. क्रोध, १५. मान, २२. माया, १३. लोभ, १४. मत्सर, ५५. अज्ञान, १६. मद, १७. निद्रा और १८. राग।

१. अनन्त दयालु होने से वे किसी की हिंसा नही करते।
२. पूर्ण सत्यपुरुष होने से वे कभी असत्य-भाषी नही होते।

३. निस्पृह एव सन्तोषमय होने से वे कभी छोटी-बड़ी वस्तु की चोरी नही करते ।

४. निष्काम होने से जलक्रीडा, वनक्रीड़ा, मैथुनक्रीडा एवं अपनी लीला नही दिखाते और न कभी करते ही है, क्योंकि लीला दिखाना सांसारिकता है धार्मिकता नही है ।

५. निर्विकारी होने से वे न तो कभी किसी का हसी-मजाक उड़ाते है और वस्तु-तत्त्व के वेत्ता होने से किसी को हसते हुए जानकर स्वय हसते भी नही ।

६. यथाख्यात-चारित्री होने से उनमे असंयम के प्रति कभी भी रति नही होती ।

७. सुदृढ़ आध्यात्मिक जीवन होने के कारण उनके मन मे सयम के प्रति अरति—अरुचि और हैरानी नही होती ।

८. वीतशोक होने से उन्हें कभी अभीष्ट के वियोग से शोक नही होता ।

९. राग-द्वेष के विजेता होने से वे स्वयं अभय होते है और दूसरों को भी अभयदान देते है ।

१०. परमशान्त, परमदयालु होने से वे किसी पर कभी भी क्रोध नही करते ।

११. सर्वोत्तम अरिहन्त-पद प्राप्त करने पर भी कभी अभिमान नहीं करते ।

१२. पूर्णतया निष्कपट होने से वे किसी भी स्थिति में माया नही करते ।

१३. निर्लोभी एवं निष्परिग्रही होने से वे किसी भी वस्तु को पाने के लिए लालायित नहीं होते ।

१४. किसी की समृद्धि, सिद्धि एव प्रसिद्धि को देखकर उनके अन्तर्मन मे जलन पैदा नहीं होती ।

१५. सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने से उनके लिए कोई भी विषय अज्ञात नहीं रह जाता, क्योंकि अज्ञान की सर्वथा निवृत्ति होने पर ही उन्हे केवलज्ञान की उपलब्धि होती है ।

१६. मद, प्रमाद और उन्माद आदि विकारों की उन पर छाया भी नहीं पड़ सकती है ।

१७. मस्तिष्क एवं शरीर की थकान निद्रा से दूर होती है, परन्तु अरिहन्त सर्वदर्शी होते है, अत: उनके मस्तिष्क एवं शरीर को किसी भी प्रकार की श्रान्ति एवं थकान नही होती, अत: वे सदैव निद्रा-मुक्त होते हैं !

१८. वीतराग होने से वे किसी पर राग-भाव नही रखते । उनका प्रेम किसी व्यक्ति विशेष पर नही, प्रत्युत समस्त

जीवों पर समान रूप से होता है, फिर भले ही कोई आस्तिक हो या नास्तिक धर्मात्मा हो या पापिष्ठ उनके प्रेम के अधिकारी सभी होते है।

इन अठारह दोषो मे से यदि किसी में एक भी दोष पाया जाए तो वह आत्मा अरिहन्तत्व को प्राप्त नहीं कर सकती, वह परमेश्वर नही बन सकती, क्योकि जो हथियारो से सनद्ध है, उसमें भय दोष पाया जाता है, जो कामनी-सहित है, वह निष्काम नही बन सकता। जिसके पास यान-वाहन आदि का परिग्रह है, या उनका जा उपयोग करता है, वह अरिहन्त नही। राज्य-समृद्धि पर जिसने अधिकार जमाया हुआ है। वह परमेश्वर नही, क्योकि वह लोभ-दोष से दूषित है। जो परमेश्वर हो जाता है, उसे रुद्राक्ष की माला फेरने की आवश्यकता नही होती, क्योकि जो स्वय परमेश्वर है, वह किसकी माला फेरेगा ? जिसको यह पता नही कि मैने अभी तक कितनी बार जप किया है, वही माला फेरता है। परमेश्वर तो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है, उसे माला फेरने की आवश्यकता ही क्या है ?

शयन करने वाला भी अरिहन्तत्व के ऊचे पद पर आसीन नही हो सकता। किसी दैत्य आदि की हत्या करने वाले को जैन-दर्शन अरिहन्त नही मानता, अत. अठारह दोषों से मुक्त परमेश्वर को ही अरिहन्त मानना जैनदर्शन को अभीष्ट है।

जैनदर्शन अरिहन्त भगवान को ही साकार परमेश्वर मानता है। अरिहन्त पद जन्म से नही, सयम, तप आदि विशिष्ट साधना द्वारा प्राप्त होता है। वर्द्धमान महावीर का जन्म महामानव के रूप मे हुआ था, वे एक आदर्श राजकुमार थे, प्रव्रज्या ग्रहण करने से लेकर साढे बारह वर्ष तक उन्होने जो विशुद्ध चारित्र का पालन किया, शरीर-निरपेक्ष घोर तप किया, लक्ष्य की ओर बढते हुए अनेक कष्टो को समता से सहन किया, रागद्वेष पर विजय प्राप्त की और जब वे सदा-सदा के लिए केवलज्ञान के आलोक से आलोकित हुए तभी वे अरिहन्त बने। जंनेतर दर्शनकारो ने जैसे एक ही ईश्वर माना है और कहा है कि उसके तुल्य अन्य कोई परमेश्वर नही बन सकता, अनादिकाल से वह एक ही है और एक ही रहेगा, जैन-दर्शन को इस मान्यता पर विश्वास नही है।

अरिहन्त पद कम से कम एक समय मे बीस महा-साधक और अधिक से अधिक एक सौ सत्तर महासाधक प्राप्त कर सकते है। वे सब अपनी आयु मगलमय विहार और धर्मदेशना के द्वारा पूर्ण करके निर्वाण-पद को प्राप्त हो जाते है। उनका कोई भी क्षण अमंगलमय नही होता। उनमे चौतीस अतिशय होते हैं। वे ऐसे अतिशय होते है जो अरिहन्तो मे ही पाए जाते है, अन्य किसी मे नही। वे अतिशय निम्नलिखित है—

चौंतीस अतिशय :

१. अरिहन्त भगवान के शरीर के रोम और नख बढ़ते नही, वे सदैव अवस्थित रहते है ।

२. अरिहन्त भगवान् का शरीर सदैव स्वस्थ एव तेजोमय रहता है ।

३. अरिहन्त भगवान् के शरीर मे रक्त गाय के दूध के समान मधुर और श्वेत होता है ।

४. अरिहन्त भगवान् का श्वासोच्छ्वास पद्म एव नील-कमल के समान सुगन्धमय होता है ।

५. अरिहन्त भगवान् का आहार-नीहार प्रच्छन्न होता है, इन आखो से वे आहार-नीहार करते हुए दिखाई नही देते ।

६. अरिहन्त भगवान् के आगे आकाश मे धर्मचक्र रहता है, जिससे वे धर्म-चक्रवर्त्ती कहलाते है ।

७. अरिहन्त भगवान् के ऊपर एक के ऊपर एक तीन छत्र होते है, जिस से वे त्रिलोकीनाथ कहलाते है ।

८. अरिहन्त भगवान् के दोनो ओर देवता मनोहारी श्रेष्ठ चमर ढुलाते है ।

९. अरिहन्त भगवान के लिये आकाश मे स्फटिक के समान स्वच्छ मणियो से जड़ा हुआ पादपीठ सहित सिहासन होता है ।

१०. अरिहन्त भगवान् के सम्मुख आकाश मे बहुत ऊंचा हजारो छोटी-छोटी पताकाओ से सुशोभित महेन्द्र-ध्वज चलता है।

११. अरिहन्त भगवान् जहा विराजते है, वहा उसी समय पत्र-पुष्प, पल्लव से परिमण्डित छत्र, ध्वज, घण्टा और पताका सहित अशोक वृक्ष प्रकट हो जाता है।

१२. अरिहन्त भगवान् के कुछ पीछे मस्तक के पास अति देदीप्यमान प्रभामडल होता है।

१३. अरिहन्त भगवान् जहा विचरते है वहां का भूभाग बहुत समतल एव रमणीय हो जाता है।

१४. अरिहन्त भगवान् जहां विचरते है, वहा सभी काटे अधोमुख हो जाते है।

१५. अरिहन्त भगवान् जहा विचरते है, वहां का वातावरण सुहावना एव अनुकूल हो जाता है।

१६. अरिहन्त भगवान् जहां विचरते है, वहां सवर्त्तक वायु द्वारा एक योजन प्रमाण क्षेत्र चारो ओर से साफ एव शुद्ध हो जाता है।

१७. अरिहन्त भगवान् जहां विचरते हैं, वहां आवश्यकता-नुसार मेघ बरस कर आकाश एवं पृथिवी मे रही हुई धूलि आदि को शान्त कर देते है।

१८. अरिहन्त भगवान् जहां विचरते हैं, वहां देवकृत जानु-प्रमाण वैक्रियमय अचित फूलों की वृष्टि होती हैं उन फूलों के डण्ठल सदा नीचे की ओर ही रहते हैं।

१९. अरिहन्त भगवान् जहां विचरते हैं, वहां इन्द्रियों एवं मन के प्रतिकूल शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नहीं रहते हैं।

२०. अरिहन्त भगवान् जहां विचरते है, वहां मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध प्रकट होते है।

२१. अरिहन्त भगवान् का स्वर देशना देते समय हृदयस्पर्शी होता है और वह एक योजन तक चारों ओर भली-भान्ति सुनाई देता है।

२२. अरिहन्त भगवान् अर्द्धमागधी भाषा में धर्मोपदेश देते है।

२३. अरिहन्त भगवान् के मुखारविन्द से निकली हुई अर्धमागधी भाषा को देव, अनार्य मनुष्य, मृग, पशु, पक्षी, सरीसृप जाति के तिर्यञ्च प्राणी अपनी-अपनी भाषा मे समझ लेते है और उन्हे वह उपदेश हित-कारी, कल्याणकारी एव सुखप्रद प्रतीत होता है।

२४ अरिहन्त भगवान् का सान्निध्य प्राप्त होते हीं जिनका पहले से ही वैर-भाव चला आ रहा है, ऐसे भवनपति, वानव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक देव तथा मनुष्य

एव सभी निर्यञ्च पुराने वैर-भाव को छोड़कर शान्त-चित्त से धर्मोपदेश सुनते हैं ।

२५. अरिहन्त भगवान के पास आकर अन्य मतावलम्बी भी उन्हे वन्दना-नमस्कार करते है ।

२६. अरिहन्त भगवान के समीप आते ही बड़े-बड़ शास्त्रार्थियों का अभिमान भी लुप्त हो जाता है ।

२७. अरिहन्त भगवान जहा-जहा विचरते है वहां-वहां चारो ओर सौ कोस की सीमा में आठ बातें नही होती, जैसे कि चूहे आदि क्षुद्र जीवो से धान्यादि का विनाश नहीं होता ।

२८. जन-सहारक रोग आदि उपद्रव नही होते ।

२९. किसी भी सेना द्वारा वहां कोई उपद्रव नहीं होता ।

३०. परचक्र का भय, पर-राज्य की सेना का और चोर-डाकुओं आदि का कोई भय नही रहता ।

३१. वहां अतिवृष्टि नहीं होती ।

३२. वर्षा का अभाव भी नही होता ।

३३. दुष्काल भी नही पड़ता ।

३४. पूर्व उत्पन्न उपद्रव तथा व्याधियां सभी एक दम शान्त हो जाते है ।

अष्ट प्रातिहार्य—

इन चौतीस अतिशयों में से अशोक वृक्ष, देवों द्वारा की हुई

कृत्रिम पुष्प-वर्षा, योजनगामिनी वाणी, मनोहर चामर-युगल, अतीव श्रेष्ठ सिंहासन, भामण्डल, छत्र, तथा मधुर ध्वनि युक्त देव-दुंदुभि इन आठ अतिशयों को प्रातिहार्य कहा जाता है। जिस प्रकार प्रतिहारी अर्थात् द्वारपाल अपने स्वामी के पास द्वार पर उपस्थित रहता है, उसी प्रकार यथावसर आठ प्रातिहार्य भी अरिहन्त भगवान के समीप उपस्थित रहते है। साधारण लोग इन आठ प्रातिहार्यों से ही अरिहत भगवान की पहचान करते है। प्रातिहार्य से बाह्य विभूति की और अतिशय से अन्तरंग व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है, यही दोनों मे अन्तर है।

अरिहन्तों के बारह गुण—

शुक्ल ध्यान, वीतराग-सयम और यथाख्यात-चारित्र के द्वारा जिसकी आत्मा से सभी घातिकर्म सर्वथा अलग हो जाते है, उस उच्चतम आत्मा को स्नातक कहते हैं। यह अवस्था तेरहवें, चौदहवे गुणस्थानवर्ती जीवो की होती है। इन दोनों गुण-स्थानो मे रहनेवाले साधक स्नातक कहे जाते है। स्नातक अवस्था को प्राप्त जीवो मे सभी गुण अपने आप मे पूर्ण होते है, यदि एक भी गुण अपूर्ण से पूर्ण हो जाय तो उसके साथ सभी गुण पूर्ण हो जाते है। उनमें दोनो प्रकार के गुण होते है सामान्य और विशेष। सामान्य की अपेक्षा विशेष गुण अधिक महत्त्वपूर्ण होते है, जिन्हे हम दूसरे शब्दो मे असाधारण गुण

भी कह सकते है । स्तुति भी असाधारण गुणों की हुआ करती है । वे गुण सख्या में बारह है, जैसे कि—

असाधारण बारह गुण—

१. **अच्छवी**—छवि का अर्थ है शरीर । जब स्नातक काय-योग का निरोध करते है तब वे शरीर होते हुए भी शरीर-रहित होते हैं । वे जीवन्मुक्त हो कर आयुपर्यन्त अरि-हन्त अवस्था मे विचरते रहते है, उनके विचरने से अनन्त जीवों का कल्याण होता है । यह अवस्था शुक्ल ध्यान के तीसरे चरण मे उपलब्ध होती है । शुक्लध्यान का तीसरा चरण चौदहवे गुणस्थान का प्रवेश द्वार है ।

२. **असबले**—यथाख्यात-चारित्र या वीतराग संयम सब प्रकार के दोषो से मुक्त होता है । शबल का अर्थ है दोष, सभी दोष मोह-जन्य हुआ करते है । जिन्होने मोह और मोह के सहयोगी कर्मो का क्षय कर दिया है, वे अशबल कहे जाते हैं । यहा गुण और गुणी मे अभेद सम्बन्ध मानकर गुणी को अशबल कहा गया है ।

३. **अकम्मसे**—जिनमे घातिकर्म लेश मात्र भी नही है, उन्हे अकर्माश कहते है ।

४. **ससुद्धनाण-दसणधरे**—तेरहवे गुणस्थान मे प्रवेश करते ही आत्मा स्वच्छ एवं निर्मल ज्ञान-दर्शन से सदा के लिए आलोकित हो जाती है ।

५. अरहा—जिनसे द्रव्य-पर्याय या गुणपर्याय आदि कोई भी बात छिपी नहीं रह गई अथवा जो नरेन्द्रों के तो क्या ? देवेन्द्रों के भी पूज्य बन गए हैं, उन्हें अरहा या अरिहन्त कहा जाता है ।

६. जिणे—राग-द्वेष के विजेता होने से उन्हे जिन भी कहा जाता है ।

७. केवली—केवलज्ञान, क्षायिक सम्यग्दर्शन और यथाख्यात-चारित्र इन तीन गुणों से सम्पन्न आत्मा को केवली कहा जाता है । यह विशेष गुण सयोगी और अयोगी दोनों गुण-स्थानों मे रहनेवाले जीवों में पाया जाता है ।

८. अपरिस्सावी—पूर्णतया अबधक अवस्था को प्राप्त हुए जीव अपरिश्रावी कहे जाते है । शुक्ल ध्यान के चौथे चरण में पहुचे हुए सभी जीव अबधक ही होते है । यह अवस्था चौदहवें गुणस्थान मे होती है ।

पूर्वोक्त आठ गुण अरिहन्त भगवन्तों के हैं सिद्धों के नहीं । अथवा १. जिणाणं, २. जावयाणं, ३. तिण्णाणं, ४. तारयाण, ५. बुद्धाणं, ६. बोहयाण, ७. मुत्ताण, ८. मोयणाणं—

अर्थात्—स्वयं राग-द्वेष के जीतने वाले, दूसरों को जिताने वाले, स्वयं संसार-सागर से जो तर गए हैं और दूसरों को तारने वाले हैं, स्वयं बोध पाए हुए है, दूसरों को

बोध देनेवाले है, स्वयं कर्मो से मुक्त हो चुके है, दूसरो को मुक्त करने वाले है, ये आठ गुण भी अरिहन्त भगवन्तों में होते है।

अरिहन्त भगवान् में चार गुण अतिशयपूर्ण होते हैं, जिन्हें असाधारण गुण भी कहा जाता है। उन गुणों की दृष्टि से उन्हे लोकोत्तर विभूति भी कह सकते है, जैसे कि—

१. अपायापगम-अतिशय—जो अतिशय उपद्रवों का, आपत्तियों का तथा आत्मिक विकारों का पूर्णरूप से नाश करता है, उसे 'अपाय-अपगम-अतिशय' कहते है।

२. ज्ञानातिशय—संसार का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो भगवान् के ज्ञान की पहुंच से बाहिर हो, वे केवल ज्ञान से वस्तु के स्वरूप को जानते है और केवलदर्शन से विश्व भर को हस्तामलकवत् देखते है। वे सभी जीवों की सभी द्रव्य-पर्यायों को जानते व देखते है।

३. पूजातिशय—अरिहन्त भगवान् संसार में सर्वोत्तम पूज्य माने जाते है। यह प्राकृतिक अतिशय है जो अतीव विरोधी को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है एवं उसके हृदय में भी पूजा-प्रतिष्ठा के संकल्प उत्पन्न कर देता है। देवलोकों में रहनेवाले देव और इन्द्र भी उनके दर्शन, स्तुति, वन्दना, वाणी-श्रवण करने के लिए लालायित रहते हैं। यही उनका पूजातिशय कहलाता है।

४. वचनातिशय—अरिहन्त भगवान की वाणी माधुर्य एवं प्रसाद गुणयुक्त होती है। देव, मनुष्य तिर्यञ्च सभी उनकी वाणी सुनकर कृतकृत्य हो जाते है। जो एक बार उनकी पीयूषवर्षिणी वाणी का श्रवण कर लेता है, उसके जीवन से मनोमालिन्य, वैर-विरोध एक दम निकल जाते हैं और वह उज्ज्वल बन जाता है।

अरिहन्त भगवान वस्तुस्वरूप को समझाने के लिये अनेकान्तवाद, निक्षेप, नय, प्रमाण सप्त-भंगी लक्षण का निरूपण करते हैं। पचास्तिकाय, षड्द्रव्य, नवतत्त्व सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन सब का निरूपण भेद-उपभेद सहित वाणी द्वारा प्रकाशित करते हैं। त्याज्य क्या-क्या है? ग्राह्य क्या क्या है? और ज्ञातव्य क्या-क्या है? इनका विश्लेषण-सश्लेषण भी जनता के सामने दिव्य शैली से करते है। यही है उनका वचनातिशय।

पूर्वोक्त आठ प्रकार के गुणों के साथ इन चार अतिशयों को सम्मिलित करके अरिहन्त भगवान में बारह गुण होते है।

अरिहन्त भगवान् सब के मार्गदर्शक होते हैं, अतः उन्हे नमस्कार किया जाता है। यद्यपि पांच महाविदेहों में एक सौ साठ विजय है, अलग-अलग विजयों मे, कम से कम बीस तीर्थङ्कर तो रहते ही हैं, तथापि हमारे समक्ष जो भूलोक है, इसमें उनका प्रवचन ही भव्य प्राणियों को प्रकाश-स्तम्भ की तरह सन्मार्ग दिखा रहा है।

आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन पद अरिहन्त

भगवन्तों के बताये हुए मार्ग पर ही चला करते हैं और चल रहे हैं, अतः सर्वोपरि मार्ग-दर्शक यदि कोई है तो वे अरिहन्त भगवान ही है।

पच परमेष्ठी के प्रथम पद में "नमो अरिहन्ताण" में उन्ही अरिहन्त भगवन्तों को नमस्कार किया जाता है जो अतिशयो से पूर्ण है।

अरिहन्तों का पुण्यस्मरण मंगलमय होता है, अतः मङ्गलमूर्ति अरिहन्त भगवान् का पुनः-पुनः स्मरण करने से स्मरण करनेवाले का जीवन भी मगलमय बन जाता है। इसके लिये प्राचीन मनोवैज्ञानिकों ने भृंगी कीट का उदाहरण प्रस्तुत किया है कि भृंगी कीट (गोबरिल्ला) भृंग का स्मरण करता-करता स्वय भी भृंग ही बन जाता है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी नाना प्रयोगों से यह सिद्ध कर दिया है कि मगल - भावना से युक्त मन बाह्य वातावरण को भी मंगलमय बना देता है। जैसे शुभ भावना एवं मंगल-कामना के साथ पौधों के पास जाने पर उनमे विकास प्रक्रिया की तीव्रता पाई जाती है। फिर मगलमूर्ति अरिहन्त का पुण्य स्मरण जीवन को मंगलमय क्यों नहीं बना देगा? अतः "नमो अरिहन्ताण" रूप मगलमय नमस्कार तो नमस्कार करने वालों का मंगल करेगा ही।

●

णमो सिद्धाणं

तृतीय प्रकाश

अरिहन्त हुए बिना सिद्ध नहीं बना जा सकता, सिद्ध होने के लिए सबसे पहले अरिहन्त की भूमिका पार करनी ही होती है। अरिहन्त पद सादि-सान्त है और सिद्ध पद सादि-अनन्त-पंचम गति प्राप्त करने वाले अरिहन्त भगवान ही होते हैं। संसारी जीव चार गतियों में आवागमन करते रहते हैं। संसार-चक्र का ऐसा नियम है कि जहां से जीव जाता है, कालान्तर में वह पुन: वहीं पहुंच जाता है जहां से वह चला था, किन्तु पंचम गति का यह नियम नहीं है। उस अवस्था को प्राप्त कर जीव पुन: चार गतियों में नहीं आता है। उसी अनिवृत्ति-प्रधान गति का नाम सिद्ध गति है।

वह गति सदा काल से चली आ रही है और वह सात विशेषणों से मंडित है, जैसे कि शिव, अचल, आरोग्य, अनन्त अक्षय, अव्याबाध और अपुनरावृत्ति। इनकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है :—

१. सिद्ध-गति सब प्रकार के आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक उपद्रवों एवं आपत्तियों से सर्वथा रहित है। इसी कारण उस गति को शिव कहते हैं।

२. वह गति अपने शुद्ध स्वरूप में सदैव अवस्थित है, उस शुद्ध दशा को प्राप्त जीव अपने स्वरूप से कभी विचलित नहीं होता, अतः वह अचल भी है।

३. शरीरों से सर्वथा रहित होने से वह आरोग्य भी है, क्योंकि "मूले नष्टे कुतः शाखा" ? जब शरीर ही नहीं तो रोग किसमें उत्पन्न होंगे ? शरीर भोगायतन है, शुभ-अशुभ कर्मों से ही शरीर बनता है, शरीर में ही रोग उत्पन्न होते हैं, जब कारण और कार्य दोनो ही समाप्त हो गए तो अस्वस्थता की निवृत्ति स्वाभाविक है।

४. उस उत्तम दशा को प्राप्त कर सदा के लिये अनन्त-अनन्त गुणों का आविर्भाव होना सुनिश्चित है, अथवा उस गति को अनन्त जीव प्राप्त कर चुके है, अतः उसे अनन्त भी कहते है।

५. उस गति को प्राप्त कर कोई भी गुण किसी भी निमित्त से पूर्ण होने पर क्षय होने वाला नही होता, अत. उसे अक्षय भी कहते है।

६. उस गति को प्राप्त कर आध्यात्मिक आनन्द एक-रस रहता है, अनन्तानन्त काल बीतने पर भी उसमे न्यूनता

नहीं आती, अतः उसे अव्याबाध भी कहते हैं।

७. जिस गति को प्राप्त कर फिर कभी भी संसार-यात्रा नहीं करनी पड़ती, उस गति को अपुनरावृत्ति भी कहते है। इन सात विशेषणों से युक्त सिद्ध-गति को प्राप्त जीव ही सिद्ध कहलाते है।

नमो सिद्धाण—नमस्कार हो सिद्धों को। यहा पर नमः के योग में षष्ठी विभक्ति का बहुवचन प्रयुक्त है, क्योंकि प्राकृत भाषा मे चतुर्थी का बहुवचन नहीं होता। पांचों पदों में एक सा नियम है। आठ कर्मो के नष्ट हो जाने पर कृतकृत्य हुए लोकाग्र-स्थित सिद्ध-गति को संप्राप्त सभी मुक्तात्माओं को सिद्ध कहते हैं, अथवा जो महान् आत्माए कर्ममल से सर्वथा मुक्त हो गई हैं, जन्म-मरण के चक्र से छूटकर सदा के लिये अजर-अमर, बुद्ध, अजन्मा, एवं बन्धन-रहित हो गई है, उन्हे सिद्ध-पद से सम्बोधित किया जाता है। अरिहन्त जीवन्मुक्त एव देहधारी और सिद्ध देहमुक्त होते है। भव्य-जीव सम्यक्त्व का विकास करता हुआ अरिहन्त बनता है और उसके बाद ही सिद्धत्व को प्राप्त करता हे। आत्म-विकास की अन्तिम कोटि पर सिद्ध भगवान ही अवस्थित है। उनसे आगे और कोई आत्म-विकास की भूमिका शेष नहीं रह जाती है।

सिद्ध पद शाश्वत है, शाश्वत अवस्था को प्राप्त करने के लिए सिद्धों को नमस्कार किया जाता है। जो आनन्द

एक बार उदित होने पर सदा-सर्वदा रहे, जिसकी धारा कभी खण्डित न हो, वह शाश्वत आनन्द माना जाता है। उस शाश्वत आनन्द को पाने के लिये ही सिद्धों को नमस्कार किया जाता है।

यद्यपि सिद्ध शब्द के अनेक अर्थ हैं—जैसे कि निपुण, सफल, प्रमाणित, कृतकार्य, लक्ष्य पर पहुंचा हुआ, जो योग की विभूतियां प्राप्त कर चुका हो, जिसे अलौकिक सिद्धियां प्राप्त हो चुकी हों, जिसकी आध्यात्मिक साधना पूर्ण हो चुकी हो इत्यादि। इन्हीं अर्थों को लेकर विशेषावश्यक भाष्यकार जिनभद्र गणी क्षमा-श्रमण ने सिद्ध शब्द का प्रयोग निम्न रूपों में इस प्रकार किया है—

१. **कर्मसिद्ध**—कृषि, भवन-निर्माण आदि कार्यों में निपुण।

२. **शिल्प-सिद्ध**—सीना-पिरोना, कढ़ाई आदि शिल्प उद्योगों में चतुर।

३. **विद्या-सिद्ध**—जिसकी विद्या सफल हो गई है।

४. **मन्त्रसिद्ध**—जिसका साधा हुआ मन्त्र कार्य करने मे सफल हो चुका है।

६. **योग-सिद्ध**—अनेक वस्तुओं के मेल से चमत्कार दिखाने वाला कुछ विशिष्ट तिथियों, वारों, नक्षत्रों आदि का किसी निश्चित नियमानुसार एक साथ पढ़ने, वशीकरण

आदि क्रियाओं में निपुण।

६. आगम-सिद्ध— आगम-शास्त्रों में प्रवीण।

७. अर्थ-सिद्ध जिसके समस्त प्रयोजन सफल हो गए हों।

८. यात्रा-सिद्ध—जिसकी यात्रा निर्विघ्न पूर्ण हो गई हो, अथवा जो यात्रा करने में कुशल हो।

९. अभिप्राय-सिद्ध—जिसके अचिन्त्य मनोरथ भी सफल हो गए हों।

१०. तपःसिद्ध—जो कठोर तप करने पर भी खेद न मानता हो।

११. कर्म-क्षय-सिद्ध – जिस ने आठ कर्मों को सर्वथा क्षय करके परमात्मपद को प्राप्त कर लिया है वह कर्मक्षय सिद्ध है। इन भेदों में आदि के दस सिद्धों का समावेश 'नमो सिद्धाणं' पद में नहीं होता। जिन्होंने आठ कर्मों का सर्वथा क्षय कर दिया है, इस पद में उन्हीं कर्म-बन्ध-मुक्त सिद्धों को नमस्कार किया गया है, अन्य को नहीं।

यद्यपि कर्म-क्षय-सिद्धों का स्वरूप और आनन्द आदि गुणों में परस्पर कोई अन्तर नहीं है, वे सब गुण एक समान हैं तथापि वे भाव, क्षेत्र, काल, लिंग, संख्या, तीर्थ आदि उपाधि-भेद से दो प्रकार के है—अनन्तर-सिद्ध और परम्पर-सिद्ध। जो बिना किसी समय का अन्तर पाए सिद्ध हुए हैं वे अनन्तर सिद्ध और जो अंतर पाकर सिद्ध हुए हैं वे परम्पर-सिद्ध माने गए है। इनमें अनन्तर सिद्धों के

पन्द्रह भेद हैं, जैसे कि—

१. तीर्थ-सिद्ध—जिस आध्यात्मिक साधन एवं साधना से संसार सागर से तरा जाए वह तीर्थ है। जिन-प्रवचन, गणधर और चतुर्विध श्रीसंघ इन सबको तीर्थ कहते है। जब तीर्थङ्कर धर्मतीर्थ की स्थापना करते है, तीर्थ की स्थापना के अनन्तर जो जीव सिद्धत्वको प्राप्त कर जाते हैं, वे तीर्थ-सिद्ध कहलाते हैं।

२. अतीर्थ-सिद्ध—तीर्थ का व्यवच्छेद हो जाने पर या तीर्थ-स्थापना होने से पहले जो जीव सिद्ध हो गए हैं, वे अतीर्थ सिद्ध हैं।

३. तीर्थङ्कर-सिद्ध—जो जीव तीर्थङ्कर पद पाकर सिद्ध हुए हैं, वे तीर्थङ्कर सिद्ध हैं।

४. अतीर्थङ्कर-सिद्ध—तीर्थङ्कर के अतिरिक्त जो जीव सोच्चा-केवली, असोच्चाकेवली और अन्तकृत् केवली बनकर सिद्ध हो जाते हैं, वे सभी इस भेद में गर्भित हो जाते हैं।

५. स्वयं-बुद्ध-सिद्ध अपने ही जाति-स्मरण आदि ज्ञान के बल से जो सिद्ध हुए है, जिन्होंने अपनी ही सूझ-बूझ से संयम और तप की सम्यक्तया आराधना-साधना करके सिद्धत्व को प्राप्त किया है, वे स्वयं-बुद्ध-सिद्ध है।

६. प्रत्येक-बुद्ध-सिद्ध—जो किसी पदार्थ को देखकर अपने ज्ञान द्वारा सूझ-बूझ का मानचित्र बदल कर वीतरागता के केन्द्र मे पहुंच जाए और सिद्ध बन जाएं, वे प्रत्येक-बुद्ध-सिद्ध कहे जाते है।

७. बुद्ध-बोधित-सिद्ध—जो किसी धर्माचार्य आदि के उपदेश सुनकर पहले बुद्ध होकर फिर सिद्ध होते हैं, वे सब बुद्ध-बोधित-सिद्ध माने जाते है ।

८ स्त्रीलिगसिद्ध—जो स्त्री के जन्म में मुक्त हुए हैं, वे स्त्री-लिंग-सिद्ध होते हैं ।

९. पुरुष-लिग-सिद्ध—जिन्होंने पुरुष के जन्म में उच्च साधना द्वारा परमपद पाया है, वे पुरुष-लिग-सिद्ध कहलाते हैं ।

१०. नपुंसकलिग-सिद्ध—नपुंसक की आकृति में परम पद पाने वाले नपुंसक-लिग-सिद्ध कहे जाते है ।

किसी भी सवेदी जीव को मोक्ष प्राप्त नही होता है, अवेदी को ही मोक्ष प्राप्त हुआ करता है । फिर भले ही वह किसी भी लिंग मे क्यो न हो ।

११. स्वलिंग-सिद्ध—जो स्वलिंग अर्थात् आगमोक्त वेष से सिद्ध हुए हैं, वे स्वलिंग-सिद्ध है ।

१२. अन्य-लिगसिद्ध—जिन साधकों का वेश आगमोक्त नही है, वे अन्य-लिंग सिद्ध कहलाते हैं । जो अन्य लिग मे रहकर रत्नत्रय के उत्कर्ष मे सफल हुए है, वे अन्य-लिंग-सिद्ध है ।

१३, गृहस्थ-लिग-सिद्ध—गृहस्थ वेश मे रहते हुए मोक्ष पाने वाले गृहस्थ-लिग-सिद्ध कहलाते है । रणाङ्गण में

जैसे शौर्य से विजय प्राप्त की जा सकती है, वेश से नहीं, वैसे ही रत्न-त्रय के उत्कर्ष से ही सिद्धत्व प्राप्त किया जा सकता है, केवल वेश मात्र से नहीं।

१४. एक-सिद्ध—एक-एक समय में एक-एक सिद्ध होनेवाले एक-सिद्ध कहलाते है।

१५. अनेक-सिद्ध—एक समय मे अनेक-अनेक सिद्ध होनेवाले अनेक सिद्ध माने जाते हैं।

एक समय मे कम से कम संख्या में दो और अधिक से अधिक एक सौ आठ जीव सिद्ध हो सकते है। यदि जीव निरन्तर सिद्ध-गति को प्राप्त करें तो आठ समय के बाद अवश्य अंतर पड़ जाता है। सिद्धों मे अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-आनन्द और अनन्त-शक्ति समान है। ये गुण उनमें आत्मा की तरह सहभावी अविनाशी और अमूर्त है। राशिरूप में सब सिद्ध एक होते हुए भी सख्या में अनन्त है। सिद्ध-भावना एक की दृष्टि से सादि है और बहुतों की दृष्टि से अनादि है। अरिहंत और सिद्धों में परस्पर केवलज्ञान और केवल दर्शन में कोई अन्तर नही है, न तो सिद्धत्व दीपक की तरह बुझने वाला है और न सूर्य की तरह अस्त होने वाला है। वे इन्द्रिय, मन और बाह्य वैज्ञानिक साधनों की सहायता से निरपेक्ष हैं। वह सिद्धत्व मनुष्य भव मे ही उपलब्ध होता है अन्य किसी भव मे नही। उसका उदय होता है, अस्त नहीं। जब हम

"नमो सिद्धाणं" कह कर सिद्धों को नमस्कार करते है तब वे चाहे अनन्तर-सिद्ध हों या परम्पर-सिद्ध हों, तब हमारे द्वारा बिना किसी भेद-भाव के सबको नमस्कार हो जाता है।

सिद्धों के आठ गुण

कर्मो के आवरण से आत्मा की ज्ञानादि शक्तियां दबी रहती है, उस कर्मावरण के सर्वथा नष्ट हो जाने से मुक्त आत्माओ मे निम्नलिखित आठ गुण प्रकट हो जाते है—

१: केवल ज्ञान—यह गुण ज्ञानावरणीय कर्म के पूर्णतया क्षय होने पर ही उत्पन्न होता है। इस गुण के उत्पन्न होने से आत्मा लोक और अलोक को भली-भान्ति जानने लग जाता है। वह सूक्ष्म-स्थूल, अन्दर-बाहर, दूर-समीप, मूर्त-अमूर्त, जीवो की गति और आगति आदि अनेक रहस्यपूर्ण वृत्तों को हस्तामलक की भांति प्रत्यक्ष देखने लगता है, उसके लिये कोई वस्तु परोक्ष नहीं रह जाती। सिद्धों मे यह गुण सादि अनन्त रहनेवाला है। यह गुण उदित होकर अस्त नही होता है।

२. केवल-दर्शन—यह गुण दर्शनावरणीय कर्म के आत्यन्तिक क्षय से प्रकट होता है। इससे वह सभी पदार्थों को देखने लग जाता है। अखिल पदार्थो की सभी पर्यायों के सामान्य गुणों का प्रत्यक्षीकरण सिद्ध भगवान करते हैं। केवल ज्ञान से वस्तु के विशेष गुणों का और केवल दर्शन से सामान्य गुणो का प्रत्यक्ष किया जाता है। यही दोनों

मे अन्तर है :

३: अव्याबाध—वेदनीय कर्म आत्मा को सासारिक सुख एव दुःख का अनुभव कराता है। इस कर्म के क्षय होने से वास्तविक एव सदा स्थायी रहने वाले आत्मिक सुख या आनन्द की प्राप्ति होती है। जिसमे कभी भी किसी तरह की बाधा न आए, वही असीम आनन्द अव्याबाध शब्द से व्यवहृत होता है।

४. क्षायिक सम्यग्दर्शन—यह गुण आत्मा मे तभी उत्पन्न होता है जबकि दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय कर्मो को समाप्त कर दिया जाए। दर्शन-मोहनीय अखड सत्य की ओर बढने नही देता और चारित्र-मोहनीय सत्य मे स्थिर नही रहने देता। अखण्ड सत्य को सदा-सदा के लिए प्राप्त कर लेना ही क्षायिक सम्यग्दर्शन है। सिद्धो मे यह भी एक विशेष गुण है। जिस गुण का जो बाधक कर्म है उसके सर्वथा क्षय होने से वह गुण अपने आप में पूर्ण हो जाता है।

५. अक्षयस्थिति—यह गुण आयु-कर्म के क्षय से प्रकट होता है, क्योकि अक्षयस्थिति के बल से आत्मा जन्म-मरण के चक्र से सर्वथा मुक्त हो जाता है। आत्मा को जन्म से लेकर मृत्यु तक शरीर रूपी कैदखाने में नियत समय तक रोके रखने वाला कर्म आयुकर्म ही है। सिद्धो का आयुकर्म नष्ट हो जाने से वहां स्थिति की मर्यादा नहीं रहती, इसी

गुण को दूसरे शब्दो मे अटलावगहना भी कहा जाता है। स्थिति के साथ ही उनकी अवगहना भी नियत हो जाती है। जबकि ससारी आत्माओ की अवगहना अनियत होती हैं।

६. अरूपित्व—यह वह गुण है जो नामकर्म के क्षय से प्रकट होता है। नामकर्म के अस्तित्व मे ही शरीर का अस्तित्व है। जहां शरीर है वहा रूप, रस, गध, स्पर्श और सस्थान आदि का होना निश्चित है, क्योंकि स्थूल शरीर का उत्पादक भी नाम-कर्म ही है। इस कर्म के अभाव मे अरूपित्व का होना स्वय-सिद्ध है। सिद्धो का नाम कर्म सर्वथा क्षय हो जाता है, वे शरीर-रहित होने से अरूपी होते हैं।

७. अगुरुलघुत्व—इस का अर्थ है न हल्का न भारी। उच्च गोत्र कर्म के उदय से आत्मा को ऊचापन और नीच गोत्रकर्म के उदय से नीचापन प्राप्त होता है। सिद्ध भगवान दोनों तरह की अवस्थाओं से रहित है, अथवा गोत्रकर्म के क्षय से आत्मा को उस उस गुण की उपलब्धि होती है जिस मे सिद्ध भगवान के सभी गुण अपने-अपने सामान्य तथा विशेष स्वरूप से च्युत नहीं होते और अपने-अपने स्वरूप मे अवस्थित रहते हुए भी परभाव या वैभाविक तत्त्वो के स्वरूप को प्राप्त नही करते। यही उनका अगुरु-लघुत्व गुण है।

८. अनन्त शक्ति—यह गुण अन्तराय कर्म के सर्वथा

क्षय होने से प्रकट होता है। अनन्त शक्ति आत्मा का वह विशेष बल है जिसके द्वारा आत्मा अपने पूर्ण स्वरूप में विकसित हो जाता है। छोटी-बड़ी सभी विघ्न-बाधाओं को समर्थ आत्मा ही नष्ट करके पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। असमर्थ तो उनसे दब जाता है, वह कभी भी लक्ष्य की ओर अग्रसर नही हो पाता, अतः अन्तराय कर्म के क्षय होने से ही सिद्धत्व प्राप्त किया जा सकता है।

इन आठ गुणों मे पहला, दूसरा, चौथा और आठवां ये चार गुण आत्मा मे अरिहन्तत्व अवस्था के पहले समय में ही प्रकट हो जाते है, शेष चार गुण सिद्धत्व प्राप्ति के पहले समय मे उदित हो जाते है। इस प्रकार आठ कर्मो के क्षय करने से आठ महागुण प्रकट होते है। उन आठ महागुणो से सम्पन्न आत्मा ही सिद्ध कहे जाते है।

सिद्धों के इकत्तीस गुण—

आगमों में सिद्धों के इकत्तीस गुणो का उल्लेख भी मिलता है, जैसे कि—

१. क्षीण-अभिनिबोधिक-ज्ञानावरण, २. क्षीण-श्रुत ज्ञानावरण, ३. क्षीण-अवधि-ज्ञानावरण, ४. क्षीण-मनः-पर्याय-ज्ञानावरण, ५. क्षीण-केवल-ज्ञानावरण, ६. क्षीण-चक्षु-दर्शनावरण, ७. क्षीण-अचक्षुर्दर्शनावरण, ८, क्षीण-अवधि-दर्शनावरण, ९. क्षीण-केवलदर्शनावरण, १०. क्षीण-निद्रा,

११. क्षीण-निद्रानिद्रा, १२. क्षीण-प्रचला, १३. क्षीण-प्रचलाप्रचला, १४. क्षीण-स्त्यानगृद्धि, १५. क्षीण-साता-वेदनीय, १६. क्षीण-असातावेदनीय, १७. क्षीण-दर्शन-मोहनीय, १८, क्षीण-चारित्रमोहनीय, १९. क्षीण-नैरयिक-आयु, २०. क्षीण-तिर्यञ्च आयु, २१. क्षीण-मनुष्यायु, २२. क्षीण-देवायु २३, क्षीण-उच्चगोत्र, २४. क्षीण नीचगोत्र, २५, क्षीण शुभ-नाम, २६. क्षीण-अशुभ-नाम, २७. क्षीण-दानान्तराय, २८. क्षीण लाभान्तराय, २९. क्षीण-भोगान्तराय, ३०. क्षीण-उपभोगान्तराय, ३१. क्षीण-वीर्यान्तराय ।

सिद्धों में क्या-क्या नहीं

संसारी जीवों में तीन प्रकार के गुण होते हैं—स्वा-भाविक, वैभाविक और पौद्‌गलिक । आत्मा का जो अपना स्वरूप है वह स्वाभाविक है। जो आत्मा में क्रोध आदि विकार एवं अवगुण हैं वे सब वैभाविक कहे जाते हैं। जो गुण इन्द्रिय-ग्राह्य हैं, वे सब पौद्‌गलिक माने जाते हैं। इनमें वैभाविक और पौद्‌गलिक ये दो प्रकार के गुण सिद्धों में नहीं होते, क्योंकि कर्मों के ऐकान्तिक और आत्यन्तिक क्षय होने से इनकी सदा के लिए निवृत्ति हो जाती है और स्वाभाविक गुणों का उद्‌भव सदा-सदा के लिये हो जाता है। सिद्ध भगवन्तों में पांच संस्थान, पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध आठ स्पर्श, तीन वेद, काय, संग, और रुह (पुनर्जन्म) का क्षय हो जाता है। इनके क्षय से उनमें स्वाभाविक गुणों की

उत्पत्ति स्वतः हो जाती है और पर-पर्याय बिल्कुल समाप्त हो जाती है। इनका विवरण इस प्रकार है, जैसे कि—

सिद्ध भगवान न लम्बे आकार के है और न छोटे है, न गोल है, न त्रिकोण है, न चौकोण और न मण्डलाकार है। वे न काले हैं, न गोरे हैं, न लाल है, न सफेद है, न नीले है। वे न सुगन्धित हैं, न दुर्गन्धित है। वे न तीखे है न कड़वे है। न वे कसैले है, न खट्टे है और न मीठे है। वे न कठोर स्पर्श वाले है, न सुकोमल है, न हल्के है, न भारी है, न ठण्डे हैं, न गर्म हैं, न चिकने है और न रूखे है। वे छः कायों मे से कोई भी कायिक नहीं। अथवा उनके पाच शरीरों में से कोई काय नहीं है। वे राग द्वेष मोह के सग से तथा कर्म-सग से सर्वथा मुक्त हैं! वे किसी भी समय जन्म नही लेते। वे न स्त्री है, न पुरुष हैं और न नपुंसक हैं।

वे सर्ववेत्ता है, सर्वदर्शी है, उनके ज्ञान और सुख के लिए कोई उपमा नहीं दी जा सकती, क्योंकि विश्व में ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है जिसके साथ उनके ज्ञान और सुख की उपमा घटित हो सके। वे अरूपी है। उनका स्वरूप शब्दातीत है।

इस वर्णन से यह स्वतः सिद्ध है कि सिद्धों में पौद्-गलिक गुणों का सर्वथा अभाव है। सिद्धों की आशातना न करना, उन्हें वन्दन नमस्कार करना, मन में श्रद्धा प्रीति रखना, वाणी से उनका गुणगान करना विनय-तप है। विनय धर्म का

मूल है, अतः सिद्ध-नमस्कार धर्म-भाव का संवर्धक है। धर्म को उत्कृष्ट मङ्गल माना गया है, क्योकि इसके जीवन में आते ही अहिंसा, संयम और तप आदि में स्वतः ही प्रवृत्ति होने लगती है। यह प्रवृत्ति आत्मा को सिद्धत्व की ओर उन्मुख कर देती है, अत. सिद्धत्व की प्राप्ति के लिये 'नमो सिद्धाण' का उच्चारण करते हुए सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलत कि जैन दर्शन जिन्हें सिद्ध कहता है वही वेदान्तियो का निर्गुण-निराकार ब्रह्म है। यदि सिद्धो को ब्रह्म कहकर नमस्कार किया जाय इसमें जैन दर्शन को कोई आपत्ति नही है। परन्तु वेदान्त दर्शन में ब्रह्म निर्गुण-निराकार होते हुए भी सृष्टि का कर्त्ता-धर्त्ता है, किन्तु जैन दर्शन का ब्रह्म अर्थात् सिद्ध कर्तृत्व आदि से सर्वथा रहित है, क्योकि उसे कर्त्ता मान लेने पर उसमें इच्छा, वासना और इसी प्रकार के अन्य गुणों का अस्तित्व भी स्वीकार करना पड़ेगा, जो कि जन्म-मरण के कारण माने जाते है। सिद्ध अर्थात् ब्रह्म प्राकृतिक गुणों-अवगुणो से सर्वथा मुक्त हैं यही उनका सिद्धत्व है।

यहां एक बात और भी जानने योग्य है, वह यह कि प्रत्येक आत्मा का अन्तिम ध्येय है मुक्ति—आवागमन से छुटकारा। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये साधक आत्मा के समक्ष कोई महान् आदर्श होना चाहिये, जिससे मुक्ति का मार्ग

प्रत्यक्ष हो सके। नमस्कार मन्त्र में प्रथम 'नमो अरिहन्ताणं" कह कर त्याग और वैराग्य के वे अन्तिम छोर प्रदर्शित किये गए हैं जहां पहुंच कर जो कुछ हेय है वह सब छोड़ दिया जाता है अरिहन्तों के लिये कुछ छोड़ना शेष नहीं रह जाता। केवल चार अघाति कर्म कच्चे सूत जैसे आयुष्य कर्म के साथ बन्धे रहते हैं जिन्हें अरिहन्त क्षण भर में अनायास ही तोड़ देते हैं और सिद्धत्व की ओर चल पड़ते है।

"नमो सिद्धाणं" कहते ही आत्मा को अपने दूसरे पर अन्तिम लक्ष्य सिद्धत्व की अनुभूति होने लगती है और 'नमो सिद्धाणं" कहते-कहते आत्मा का सिद्धत्व सूर्योदय पर प्रकाश के समान प्रकट होने लगता है और उस प्रकाश में आत्मा को उस सिद्धत्व की उन्मुखता प्राप्त हो जाती है जो उसका अन्तिम जीवन-लक्ष्य है। अत: 'नमो सिद्धाणं' में सिद्धों को नमस्कार तो है ही साथ ही अपनी आत्मा में छिपे सिद्धत्व का प्रकटीकरण भी है।

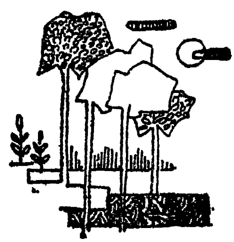

णमो आयरियाणं

चतुर्थ प्रकाश

नमस्कार मन्त्र का तीसरा पद है "नमो आयरियाणं" नमस्कार हो आचार्यों को।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि यहां आचार्य शब्द से क्या अभिप्राय है ? क्योंकि आचार्य शब्द अनेक अर्थों में रूढ़ है, जैसे कि किसी भी विशेष विषय या कला के मर्मज्ञ विद्वान को आचार्य कहा जाता है। जैसे कि—न्यायाचार्य, वेदाचार्य, व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य, आयुर्वेदाचार्य, ज्योतिषाचार्य, कलाचार्य, शिल्पाचार्य, संगीताचार्य, नाट्याचार्य आदि। इसी प्रकार विश्वविद्यालयों से प्राप्त की हुई आचार्य उपाधि से विभूषित विद्वान् भी आचार्य कहलाते हैं। कभी-कभी राष्ट्रीय नेताओं द्वारा किसी विद्वान् को सम्मानित करने के लिए भी आचार्य-पद प्रदान कर दिया जाता है और किसी के अन्त्येष्टि-संस्कार से पहले और बाद में क्रिया-कर्म करवा कर दान लेने वाले जघन्य ब्राह्मण जिन्हें महाब्राह्मण या

महाआचार्य या अचारज भी कहते हैं, वे भी अपने आपको 'अचारज' न कहकर आचार्य ही कहते हैं। क्या ये सभी आचार्य इस आचार्य-नमस्कार में सम्मिलित हो जाते हैं ? या नहीं !

वस्तुतः इस तीसरे पद में केवल उन धर्माचार्यों का ही समावेश होता है, जो स्वयं आचारवान् हैं और दूसरों को भी आचार-मार्ग का उपदेश करते है। जैसे रेलवे इजन स्वतः लाइन पर चलता है और अपने साथ डिब्बों और यात्रियों को भी खींचकर यथास्थान पहुंचा देता है, वैसे ही आचार्य भी अपना जीवन और समाज का जीवन मगलमय एवं कल्याणमय बनाकर पंचम-गति को प्राप्त हो जाते हैं या तीसरे भव में परम-पद को प्राप्त करने की योग्यता एवं स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। इस तरह के महामानवों को इस तीसरे पद में नमस्कार किया जाता है।

अरिहन्तों और गणधरों की अनुपस्थिति में संघनायक आचार्य ही होते है। सिद्ध भगवान् पूर्णतया कृतकृत्य हो जाते है, उनके लिए कोई कार्य करना शेष नही रह जाता। अरिहन्तों और सिद्धों को लक्ष्य मे रखकर उनकी आज्ञा का आश्रय लेकर जो स्वयं सन्मार्ग पर चलते हैं और दूसरों को भी तीर्थङ्करों के बतलाए हुए मार्ग पर चलाते हैं वे धर्माचार्य माने जाते है। उनका अतिशय और कार्य-विभाग इस प्रकार है—

१. सूत्रार्थ स्थितिकरण—

संघ की व्यवस्था के लिए आचार्य का कर्तव्य है सूत्र और अर्थ को स्थिर रखना, विवादास्पद विषयों का निश्चय करना, अथवा सूत्र और अर्थ की परम्परा को अविच्छिन्न रखना, अध्ययन की परम्परा को दृढ़ करना, अथवा सूत्र और अर्थ में श्रीसंघ को स्थिर करना और विवादास्पद विषयों का यथासम्भव समाधान करना। इसीलिये आचार्य को सूत्रार्थ-विद् कहा जाता है।

२. विनय—

छोटे, बड़े, सबके साथ विनम्रता से, मधुरता से तथा निष्कपटता से व्यवहार करना आचार्य का दूसरा कर्तव्य है।

३. गुरुपूजा

रात्निक अर्थात् अपने से बड़े स्थविरों की भक्ति करना और उनका मान-सम्मान करना।

४. शैक्ष-बहुमान

नवदीक्षित तथा शिक्षा-ग्रहण करनेवाले छोटे साधुओं का भी बहुमान करना, जिससे उनके मन में आचार्य के प्रति श्रद्धा, विनय एवं भक्ति की वृद्धि हो।

५. दानपति की श्रद्धावृद्धि

श्रीसंघ की सेवा के उद्देश्य से या प्रभावना के उद्देश्य से दान देनेवाले की श्रद्धा एवं उत्साह को बढ़ाना आचार्य

का परम कर्त्तव्य है। इसी को दूसरे शब्दों मे ऊवबूह भी कहते हैं। इसका अभिप्राय भी उत्साह का संवर्धन ही है।

६. बुद्धिबल-दर्शन

ऐसा प्रयास करना जिससे कि अपने आश्रय में रहने वाले शिष्यों का अपने-अपने कार्य-विभाग में बुद्धि का विकास हो, चिन्तन-शक्ति बढ़े और आध्यात्मिक शक्ति की बृद्धि हो। ये छः अतिशय आचार्य के है। उपलक्षण से ये अतिशय अन्य पदधरों के भी हो सकते है।

जिन-शासन के उपदेशक, युक्त-अयुक्त विभाग के निर्देशक, अकुशल शिष्यों के निपुण शिक्षक, आदर्श सयमी आदि उत्तम लक्षणों से सम्पन्न आचार्य को नमस्कार करना विनय है। विनय ही धर्म का मूल है। आचार्य भी श्रीसघ सस्था के उन्नायक होते है। जैसे चक्रवर्ती सम्राट छत्तीस विशेषताओं से समृद्ध होता है, वैसे ही आचार्य भी छत्तीस गुणो से सम्पन्न हुआ करते है। उन छत्तीस गुणो की गणना के संदर्भ में कुछ मत-भेद है। जिज्ञासुओं की जानकारी के लिए उन सबका उल्लेख करना ज्ञान-वृद्धि मे सहायक ही होगा। अत: उनका सक्षिप्त रूप प्रस्तुत किता जाता है।

पहले प्रकार के छत्तीस गुण

पांच इन्द्रियों का वशीकरण, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों का पालन, चार कषायों का त्याग, सार्वभौम पांच महाव्रतों

का आचरण, ज्ञानाचारादि पांच आचारों, इर्या आदि पांच समितियों और त्रियोग-गुप्ति, इन छत्तीस गुणों से युक्त महा मानव को धर्मगुरु या धर्माचार्य कहा गया है।

दूसरे प्रकार के छत्तीस गुण

१. आचार-सम्पदा, २. श्रुत-सम्पदा, ३. शरीर-सम्पदा ४. वचन-संपदा, ५. बुद्धि-सम्पदा ६. वाचना-सम्पदा ७. प्रयोग-सम्पदा, ८. सग्रह-सम्पदा, इन आठ सम्पदाओ के प्रत्येक के चार चार भेद होते है और १. आचार-विनय २. श्रुत-विनय, ३. विक्षेपण-विनय, ४. दोष-निर्धातन विनय, विनय के ये चार भेद साथ जोड़ने पर पूरे छत्तीस गुण आचार्य के हो जाते है।

तीसरे प्रकार के छत्तीस गुण

आठ संपदाए, छ: आवश्यक, बारह प्रकार का तप, दस स्थिति-कल्प कुल मिलाकर आचार्य के ये छत्तीस गुण कहे जा सकते है।

चौथे प्रकार के छत्तीस गुण

ज्ञानाचार के आठ, दर्शनाचार के आठ, चारित्राचार के आठ और तप आचार के बारह भेद, इस प्रकार इन सब भेदो को मिलाकर आचार्य के छत्तीस गुण कहे जाते हैं।

पांचवें प्रकार के छत्तीस गुण

१. विश्वास-पात्र, २. तेजस्वी, ३. तत्कालीन संघ

में सर्व-श्रेष्ठ, ४. मधुरभाषी, ५. गम्भीर, ६. धैर्यवान् ७. उपदेश देने मे कुशल, ८. अविस्मृति—धारणावान ९. सौम्य, १०. संग्रहशील, ११. अचपल, १२. प्रशान्त, १३. विकथाविमुख, १४. अप्रमत्त, दशविध यतिधर्म से युक्त, अनित्य आदि बारह भावनाओं से सम्पन्न इस तरह भी आचार्य के छत्तीस गुण कहे जाते है।

छठ प्रकार के छत्तीस गुण

१. देशयुत : आर्यदेश मे जन्म लेने वाले।

कुलयुत : कुलीन, कुलीन व्यक्ति ही अनुष्ठानों का निर्वाह कर सकता है।

३. जातियुत : उच्च जाति वाला व्यक्ति ही विनय-लज्जादि गुणो वाला होता है।

४. रूप-सम्पन्न : रूपवान् व्यक्ति प्राय: गुणवान होते हैं। जनता प्राय: ऐसे व्यक्तियों के गुणों के प्रति अधिक आकृष्ट होती है।

५. सहननयुत : विशिष्ट शक्ति सम्पन्न व्याख्यानादि देते हुए खेद का अनुभव न करनेवाला।

६. धृतियुत : मानसिक स्थिरतावाला एवं धैर्यशाली।

७. अनाशसी : निस्पृह एव श्रोताओं से वस्त्रादि पाने की इच्छा न रखनेवाला।

८. अविकत्थन : आत्मश्लाघा न करनेवाला।

९. अमायी : आत्मवंचना एवं पर-वंचना न करनेवाला।

१०. स्थिरपरिपाटी : निरतर ज्ञानाभ्यास करनेवाला।

११. गृहीतवाक्य : जिसके वचन सभी के लिए सार-गर्भित प्रतीत हों।

१२. जित-परिषद् : परिषद् को वश करने मे कुशल।

१३. जितनिद्र : निद्रा को जीतनेवाला हो तभी वह रात्रि मे सूत्र एवं अर्थ का एकान्त में चिंतन कर सकता है।

१४. मध्यस्थ : सभी शिष्यो में समभाव रखनेवाला।

१५. देशज्ञ : सयम के अनुकूल देश एव क्षेत्र विशेष का ज्ञाता।

१६. कालज्ञ : उचित अवसर का जानने वाला।

१७. भावज्ञ : शिष्यों के भावों का वेत्ता।

१८. आसन्न-लब्धप्रतिभ : हाज़िरजवाब, प्रतिभा-शाली, महान व्यक्तित्व से सम्पन्न व्यक्ति ही शासन-प्रभावना कर सकता है।

१९. नानाविध-देशभाषज्ञ : अनेक देशों की भाषाए जाननेवाला हो। तभी वह देश-देशान्तर के शिष्यों को सुख पूर्वक उनकी भाषा में अध्ययन करा सकता है और जनता को भी उनकी भाषा में धर्मोपदेश दे सकता है।

२०—२४—पञ्चविध आचारयुक्त—सावधान रह-कर उत्साह पूर्वक पांच आचारों का पालन करनेवाला, क्योंकि आचार-निष्ठ ही दूसरो से आचार का पालन करा सकता है, अतः आचार्य का आचार-युक्त होना अनिवार्य है।

२५. सूत्रार्थ-तदुभय-विधिज्ञ—सूत्रागम, अर्थागम और उभयागमविधि का जानकार हो। शास्त्रानुकूल क्रिया का शिष्यों द्वारा पालन करवाने में समर्थ हो।

२६-२९—आहरण हेतूपनय-नयनिपुण—दृष्टान्त, हेतु, उपसंहार और नय इनका आश्रय लेकर व्याख्यान आदि मे विषय को स्पष्ट करने मे दक्ष हो।

३०. ग्राहणा-कुशल—दूसरो को समझाने मे अति-निपुण हो।

३१-३२. स्व-पर-समयवेदी—अपने और दूसरे सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का ज्ञाता हो और दूसरों के द्वारा अपने दर्शन पर आक्षेप किए जाने पर वह उन्हे उचित उत्तर देकर अपने पक्ष का समर्थन कर सकता हो।

३३. गम्भीर—गम्भीरता ही आचार्य के व्यक्तित्व और गौरव की रक्षा कर सकती है।

३४. दीप्तिमान—तेजस्वी पुरुष किसी दूसरे के प्रभाव में आनेवाला नहीं होता, अतः आचार्य का तेजस्वी होना अनिवार्य है।

३५. शिव—जहां-तहा विचर कर लोगों का कल्या ण करनेवाला हो।

३६. सौम्य—प्रशान्त एवं पूर्णिमा के चन्द्र की तरह सब को शान्ति प्रदान करनेवाला हो।

इनके अतिरिक्त आचार्य के विशेष गुण निम्नलिखित भी उपलब्ध होते है—

जाइसंपन्ने, कुलसपन्ने, बलसपन्ने, रूवसपन्ने, विणयसपन्ने, नाणसपन्ने, दसणसपन्ने, चरित्तसपन्ने, लज्जासपन्ने, लाघवसपन्ने, लज्जालाघवसपन्ने ११। ओयसी, तेयसी, वच्चसी।१४।

जियकोहे, जियमाणे, जियमाए, जियलोहे, जियनिद्दे, जिईदिए जियपरीसहे, २१ जीवियास-मरणभय विप्पमुक्के।२२।

तवप्पहाणे, गुणप्पहाणे, करणप्पहाणे, चरणप्पहाणे, निगहप्पहाणे, निच्छयप्पहाणे, अज्जवप्पहाणे, मद्दवप्पहाणे, लाघवप्पहाणे, खतिप्पहाणे, मुत्तिप्पहाणे, विज्जप्पहाणे, मंतप्पहाणे, बंभप्पहाणे, नयप्पहाणे, नियमप्पहाणे, सच्चप्पहाणे, सोयप्पहाणे, नाणप्पहाणे, दसणप्पहाणे, चरित्तप्पहाणे। (राजप्रश्नीयसूत्र)

आचार्य के अन्य विशिष्ट छः गुण—

जिस महान् आत्मा मे छः गुण हो, वह आचार्यत्व को

प्राप्त कर सकता है और वही साधु समुदाय को मर्यादा में रख सकता है। स्वयं मर्यादा मे रहने वाला तथा दूसरो को मर्यादा में रखनेवाला उच्च साधक ही आचार्यत्व को प्राप्त करने का अधिकारी होता है। जैसे कि -

१. सड्ढि-पुरिसजाए—जिसको जिन-वाणी पर, शास्त्र-समाचारी, गण-समाचारी एव नव तत्त्वों पर दृढ श्रद्धा हो, स्थावर जीवो पर आस्था हो, महाव्रतों पर पूर्ण विश्वास हो, वही आध्यात्मिक नेता व्यवस्थित रूप से समाज का सचालन कर सकता है। श्रद्धाहीन स्वय भी डूबता है औरों को भी डुबाता है, और श्रद्धावान स्वयं मर्यादा मे रहता है तथा दूसरो को भी मर्यादा मे रखता है।

२. सच्चे पुरिसजाए—सत्यवादी एव प्रतिज्ञा-शूर मुनिवर ही गण का सरक्षक होता है। उसी के वचन ग्रहण करने योग्य होते है और जनता के लिये वही विश्वास-पात्र होता है। जो सदैव इस बात का ध्यान रखता है कि कभी मेरे से असत्य भाषा, मिश्र भाषा या न बोलने योग्य सत्य भाषा भी मेरे मुख से न निकले, कभी काय से असत्य व्यवहार भी न हो पाए, अतः सदा अप्रमत्त रह कर सत्यवादिता की रक्षा करनेवाला ही गण का संचालन कर सकता है।

३. मेहावी पुरिसजाए—जिसमें श्रुतग्रहण करने की शक्ति है वह अपनी सूझबूझ के अनुसार मनोवैज्ञानिक पद्धति से दूसरो को मर्यादा में चला सकता है और स्वयं मर्यादित

रह सकता है । प्रत्येक साधक की प्रकृति भिन्न होती है । अतः उन्हें कोई बुद्धिमान ही सुशिक्षित कर सकता है ।

४. बहुसुय पुरिसजाए—बुद्धिमान् तो अनपढ भी हो सकता है, अतः आचार्य का विद्वान् होने के साथ-साथ बहुश्रुत होना भी जरूरी है । जिसकी विद्वत्ता बहुमुखी हो, स्व-दर्शन और परदर्शन का वेत्ता हो, वही बहुश्रुत गण की सार-सम्भाल कर सकता है ।

५. सत्तिम—यदि आचार्य मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक शक्ति से सम्पन्न हो, मन्त्र-शक्ति, विद्या-शक्ति एवं दिव्य-शक्ति इत्यादि शक्तियों पर अधिकार रखता हो, तभी वह सघ की या गण की रक्षा कर सकता है । आपत्ति-काल मे अपनी और अपने गण की रक्षा करनेवाला ही आचार्य बन सकता है ।

६. अप्पाहिगरणे—जो न अपने पक्ष से कलह, झगड़ा, लड़ाई करता है और न दूसरे मतावलम्बियो से कलह करता है, जो स्वय भी शात रहता है और दूसरो को भी शान्ति प्रदान करता है, किसी से तकरार नही करता, वही संघ की रक्षा करने में समर्थ हो सकता है ।

आठ गणी-संपदा—

ज्ञान आदि गुणों के समूह को गण कहा जाता है, अथवा एक गुरु के शिष्य परिवार को कुल और अनेक कुलों के समूह को गण कहते है । ऐसे गण की कुशल व्यवस्था

करनेवाले को गणी या आचार्य कहते है। गणि-पद से गण-धर, आचार्य और गणी तीनों का ग्रहण हो जाता है। जो साधुओं के आचार-विचार का ध्यान रखता हुआ देश के कोने-कोने मे धर्म-प्रचार करता है, वह गणी है, उसमें जो विशेषताएं होनी चाहिए उन्हें सम्पदा कहते है। जैसे राजा पाच प्रकार की निधियों—धन-निधि, धान्य-निधि, पुत्र-निधि, मित्र-निधि और शिल्प-निधि का स्वामी होता है, वैसे ही गणि या आचार्य को आठ सपदाओ से सम्पन्न होना चाहिये, है जैसे कि—

१. **आचार-सपदा**—प्राणीमात्र के लिये अन्न-जल की तरह सदाचार भी परम आवश्यक है। आचार-संपत् आत्मा की सदैव सहवर्तिनी होती है। चारित्र मे दृढ़ता का होना ही आचार है। सयम की सभी प्रक्रियाओ मे मन, वचन और काया को स्थिरतापूर्वक संलग्न रखना, विनीत भाव से रहना वर्षावास के अतिरिक्त कही भी कल्प-मर्यादा से अधिक न ठहरना, क्योकि अधिक ठहरने से सयम मे प्रमाद एव शैथिल्य आ जाना स्वाभाविक है, किसी भी स्थिति में चंच-लता न आने देना, गंभीर एव मधुर स्वभाव रखना, यही है आचार्य की आचार-सम्पदा।

२. **श्रुत-सम्पदा**—सदाचारी का ही श्रुतज्ञान प्रशसनीय होता है, वस्तुत: सदाचारी ही श्रुतज्ञान का अधि-कारी होता है और वही उसकी सुरक्षा कर सकता है। वैदिक

सस्कृति के किसी महर्षि ने भी कहा है—"आचार-हीनं न पुनन्ति वेदा"—आचारहीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। आचार-हीन के श्रुत-ज्ञान की गर्दभ पर लदे चन्दन से समता की गई है। गणी या आचार्य को आगमों का पारगामी होना चाहिए। जिसने सभी आगम-शास्त्रों का अध्ययन कर लिया हो, आगमो को जिसने अपने नाम की तरह कण्ठस्थ कर लिया हो, जिसने शास्त्रीय ज्ञान में पूर्णता प्राप्त कर ली हो, जिसका पाठो का उच्चारण बिल्कुल शुद्ध हो, वही श्रुतसंपदा से युक्त माना जाता है और तभी वह धर्म प्रचार करने में समर्थ हो सकता है।

आचार्य आचरण ही नहीं, करता, अपितु दूसरों से भी आचरण करवाता है। वह ज्ञान-सम्पत्ति का अर्जन ही नहीं करता, उसका विसर्जन भी करता है। उसे योग्य व्यक्तियों को बांटता भी है, परन्तु उसी दशा में जबकि वह स्वयं 'सुत्तत्थविऊ' हो। जिसके पास कुछ है, वही दातव्य और देने योग्य पात्र का विचार भी करेगा। जिसके पास कुछ है ही नहीं वह देगा भी क्या ? जिसका अपना ज्ञान-कोष पूर्ण हो चुका है, वह ज्ञान के वितरण की शैली पर भी विचार करेगा, उसकी विधि निर्धारित करेगा, उसे विचारपूर्वक योग्य व्यक्ति को ही बांटेगा, वह कभी कच्चे घड़े मे पानी भरने की भूल न करेगा। वह जिज्ञासाशीलों को उतना ही देगा जितना उनके लिए उपयुक्त होगा, जितने को वे अपने ज्ञान-

कोष में संजोकर रख सकते होंगे और साथ ही वह अपने शिष्य-वर्ग को इस प्रकार उद्‌बुद्ध करेगा जिससे उनकी ज्ञान-धारा बहुमुखी होकर प्रवाहित हो सके।

आचार्य की बौद्धिक महत्ता के कुछ अन्य मा -दण्ड भी निर्धारित किये गये है। आचार्य पर केवल अनुयायियों के मार्ग-दर्शन का दायित्व ही नही है, उसे तर्क का आश्रय लेकर सूझ-बूझ से परिपूर्ण वचनावली से, देशकाल एव वातावरण के परिज्ञान पूर्वक अपनी ज्ञान-धारा मे उन्हे भी स्नान कराना होता है जो भटके हुए है, जो प्रतिकूल साधना को आत्म-साधना समझने की भूल में उलझे हुए है, अत: आचार्य का यह दायित्व है कि वह जो कुछ बोले, वातावरण एव श्रोताओं की वृत्तियों को समझ कर बोले, उसका प्रत्येक वचन देश-विदेश की परिस्थितियों के अनुकूल हो और साथ ही उसकी प्रत्येक उक्ति-प्रत्युक्ति श्रोता को परख कर कही गई हो।

आचार्य के लिए श्रुत-सम्पदा-सम्पन्न होना भी आवश्यक है। जिसने सर्वज्ञ मुनीश्वरों द्वारा कहे गए 'साधना सूत्रों' को अनेक दृष्टियो से समझा हो, जिनके सम्बन्ध में अनेक तत्त्ववेत्ताओं के विचारों को जाना हो, अनेक सूत्रों को इस प्रकार समझा हो कि उसका जीवन सूत्रमय बन गया हो, उसके बौद्धिक आलोक के लिए कुछ भी ज्ञातव्य शेष न रह गया हो, सूत्रों के अन्तस्तल का स्पर्श करके जीवन

और जगत की अद्‌भुत गहराइयों और विविध अनुभूतियों को जो व्यक्त कर रहा हो और साथ ही सूत्रोच्चारण के साथ-साथ ध्वनि-शास्त्र के अनुरूप उसके उच्चारण की विधियों के प्रयोगों से पूर्णत: परिचित हो, वही जीवन स्रष्टा मुनीश्वर आचार्यत्व के महान् दायित्व का पालन कर सकता है। मननशील महर्षि ने आचार्य की इसी अर्थवत्ता को समझते हुए ही उसे 'सूत्रार्थविद्' कहकर उसके महापद का समर्थ मूल्यांकन किया है।

यहां एक और बात भी ध्यान देने योग्य है कि 'सूत्र' शब्द के दो अर्थ है, जो कुछ संक्षेप में कहा जाय, वह भी सूत्र कहलाता है और एक छोर से दूसरे छोर तक पहुंचने के साधनों को भी सूत्र कहा जाता है। विश्वस्त 'सूत्र' शब्द सूत्र शब्द के इसी अर्थ की ओर संकेत कर रहा है। सूत्र के लिए ही 'श्रुत' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। तीर्थङ्कर देवों ने अपने युग में जो कुछ कहा वह संक्षेप मे कहा—सूत्र रूप में कहा। तीर्थङ्करो ने कुछ भी लिखा नही, उनसे अर्थ सुना गया, गणधरों ने अर्थ को सुन कर सूत्रो का निर्माण किया, अत: सूत्र ही श्रुत कहलाए। भावी सुदीर्घ परम्परा में होने वाले आचार्य स्वयं तीर्थङ्करो के मुख से अर्थ का श्रवण नही कर सके, परन्तु अपनी व्युत्पन्न प्रतिभा के आधार पर वे ऐसे विश्वस्त सूत्र खोज लेते हैं जिनसे वे सूत्रों के उस मूल तक पहुंच जाते हैं जो तीर्थङ्करों के सम्यक् ज्ञान की

भूमि के किसी गहरे गह्वर मे अवस्थित हो गए है, ऐसी व्युत्पन्न-प्रतिभा के धनी ही 'सूत्रविद्' कहलाते है ।

सूत्र के रूप में जो भी कहा गया है, वह संक्षिप्त शब्दों में कहा गया है, अतः उसके वास्तविक अभिप्राय का बोधन, उसकी भावात्मक गहराइयों का चिन्तन और तीर्थङ्करो के आशय की सही पकड़ करनेवाला प्रज्ञा-पुरुष ही श्रुत-सम्पन्न कहलाता है ।

४. शरीर-सपदा—श्रुतज्ञान का आधार शरीर है । शरीर का सुसगठित एव प्रभावशाली होना अवश्यभावी है । आचार्य का शरीर लम्बाई-चौड़ाई, ऊंचाई और मोटाई की अपेक्षा सर्वाङ्ग सुन्दर एवं सुडौल होना चाहिए, उसका कोई भी अङ्ग अधूरा बेडौल एवं लज्जनीय न हो, शरीर नीरोग हो, इन्द्रियां सभी पूर्ण हों, इत्यादि विशेषताओं से युक्त शरीर को ही शरीर-संपदा माना जाता है ।

सूत्र हो या अर्थ, आचार हो या विचार, सबका आरम्भ शरीर से ही होता है । शरीर के बिना कुछ रह नहीं सकता, कुछ भी हो नहीं सकता । आचार्य के अन्तर का परीक्षण और उसकी प्रभावशीलता की परख शरीर ही बता सकता है । शरीर-शास्त्री शारीरिक आकृतियों के आधार पर ही जीवन के भूत, भविष्य और वर्तमान का अध्ययन कर लेते है । लम्बे कान मस्तिष्क-शक्तियों के अनन्त विकास का परिचय देते हैं, हाथ के अगुष्ठ-मूल का उभरा हुआ भाग विलास-

प्रियता का परिचायक होता है, छोटे, खुरदरे एवं कठोर हाथ श्रमिक जीवन का संकेत करते हैं, इसी प्रकार अन्तर में जागृत क्रोध की लहर आंखों में लाली, भौहों में तनाव, मस्तक पर आड़ी रेखाएं, दांतों में कडकडाहट और हाथ-पैर की पटकन के रूप में व्यक्त हो उठती है। इस प्रकार के शरीर से मनोवृत्तियों का अध्ययन होता है, अत: आचार्य के लिये उस व्यक्ति को उपयुक्त समझा गया है जिसका शरीर न तो अधिक लम्बा हो और न ही अधिक ठिगना हो। आचार्य का शरीर युगानुरूप मर्यादा के अनुकूल लम्बाई एव ऊंचाई वाला होना चाहिए।

जब शरीर के अङ्ग विकृत होते हैं, बेडौल होते हैं, जब शरीर-त्वचा आवश्यकता से अधिक काली होती है, तो इस शरीर-सम्पदा के अभाव में आचार्य की प्रभावशीलता नष्ट हो जाती है। विकृत शरीर के सम्बन्ध में एक लोकोक्ति-जन्य तथ्य सामने आ रहा है—

"सौ में शूर सहस में काना, सवा लाख में ऐंचाताना।
ऐंचाताना करे पुकार, मैं आया कंजा से हार॥"

यह लोकोक्ति केवल नेत्र-विकृतियों से मनुष्य की हार्दिक विकृतियों के परिमाणों की अधिकता को व्यक्त कर रही है। अत: आचार्य का शरीर ऐसा हो जिसके कारण न तो वह स्वयं आत्म-हीनता, आत्म-ग्लानि एवं लोक-लज्जा का अनुभव कर रहा हो ही वह समाज लज्जित हो

जिस समाज ने उसे आचार्यत्व प्रदान किया है। आचार्य का शरीर सुसंगठित हो, अर्थात् उसके समस्त अवयव अनुपात में हों, अनुपात-हीन शरीर मानस-विकृतियों का द्योतक होता है। सुन्दर, कोमल, सुगठित शरीर की भावनाएं भी सुन्दर, परम्पराबद्ध एव करुणा आदि कोमल भावनाओं से युक्त एवं शुद्ध होती है। महापुरुषो के शरीर इसीलिए कोमल होते है।

४. वचन-सम्पदा—श्रुतज्ञानी यदि मधुरभाषी होगा तभी उसका श्रुतज्ञान फलित हो सकता है। ग्राह्यवचन और मधुर एवं प्रभावशाली वाणी का होना आचार्य की सम्पदा है। आचार्य के प्रवचन सर्वजन-ग्राह्य हों, उसके भावों और अर्थों में गंभीरता हो, वाणी भाषा के सभी दोषों से रहित हो, संदेह-रहित एवं स्पष्ट हो ये सभी वचन-सम्पदा के ही रूप हैं।

"नो हीलए नो वि अखिसइज्जा,
थमं कोहं च चए स पुज्जो।"

आचार्यत्व के पूज्य पद के योग्य व्यक्ति संघ के किसी भी सदस्य की निन्दा एवं भर्त्सना नहीं करता, वह क्रोध और मान के प्रभावों से सर्वदा मुक्त रहता है। जिसके हृदय को अपने बड़प्पन का आभास होने लगेगा, उसे अपने बड़प्पन की चिन्ता हो जानी भी स्वाभाविक है, यह चिन्ता ही समस्त अवगुणों का मूल है, अत: आचार्य वही है जो—

"नो भावये नो वि अ भाविअप्पा,
अकोउहल्ले अ सया स पुज्जो।"

आचार्य न तो किसी की प्रशंसावलियों का गान करता है और न ही किसी से प्रशंसावलिया सुनता है, वह संसार के खेलो में मन को नहीं रमाता, वह समस्त जीवन-लीलाओं को देखता है निस्पृह भाव से।

५. वाचना-सम्पदा—मधुरभाषी ही दूसरों को श्रुतज्ञान दे सकता है। शिष्यो को शास्त्र आदि पढ़ाने की योग्यता को वाचना-सम्पदा कहते हैं। शिष्य की रुचि एवं योग्यता देखकर ही अध्ययन कराना, जिसकी जैसी योग्यता हो उसे वैसा ही शास्त्र पढ़ाना, पूर्व-अपर अर्थ की संगति करके पढाना, धारणा-शक्ति देखकर पढ़ाना, मनोवैज्ञानिक रीति से पढ़ाना, जिससे शिष्य को भी लाभ हो और अपना परिश्रम भी सफल हो। आचार्य में पढ़ाने की कला अन्यों से विलक्षण होनी चाहिए।

६. मति-सम्पदा। बुद्धि, पूर्वक शिष्य को वाचना देने से ही विद्वत्ता चरितार्थ होती है। मति-ज्ञान की विशिष्टता ही मति-संपदा है। विषय को ग्रहण करने की विशिष्ट शक्ति, उस पर पर्यालोचन करने की विलक्षण प्रतिभा, निश्चय करने की प्रबल शक्ति, अद्भुत स्मरण शक्ति, इन्हें ही क्रमश: अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा कहते हैं। ये चारों गुण मति-सम्पदा के अंग है।

७ **प्रयोग-मति सम्पदा**—बुद्धिमान् ही दूसरों की शंका का समाधान कर सकता है और अनेक विध प्रश्नों का उत्तर दे सकता है, अत: आचार्य के लिए प्रयोगमति का होना सुनिश्चित है। जिज्ञासा को शान्त करने लिए जो प्रश्नोत्तर होते हैं, उन्हें संवाद कहते हैं। जब दूसरे को पराजित करने की इच्छा से प्रश्न पूछे जाते हैं तब उसे विवाद कहा जाता है। इसमें सभासद और सभापति की परम आवश्यकता रहती है, क्योंकि जय और पराजय का निर्णय सभापति ही देता है। शास्त्रार्थ करने की कला को प्रयोगमति-सम्पदा कहा जा सकता है। शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होने से पहले प्रति-द्वन्द्वी सभासद और सभापति इनकी अनुकूल-प्रतिकूल प्रकृति को देखकर शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होना चाहिए। सभा कैसी है और किन विचारों की है ? सभापति कैसे विचारों का है ? क्षेत्र अनुकूल है या प्रतिकूल ? इन सब बातों का जानना आवश्यक होता है। शास्त्रार्थ के मुख्य विषय क्या हैं ? इसकी जानकारी भी अनिवार्य है। अत: आचार्य का शास्त्रार्थकला में निपुण होना उसकी 'प्रयोग-मति-सम्पदा' है।

८. संग्रह-परिज्ञा-संपदा—शास्त्रार्थ-महारथी प्रवचन-प्रभावक होता है। सयम-उपयोगी उपकरणों का तथा संयम-उपयोगी शिष्यों का संग्रह प्रभावक ही कर सकता है। सर्व-विरतियों के लिए निर्दोष साहित्य, मकान, वस्त्र, पट्टा चौकी, फूस आदि का संग्रह करना, वर्षावास के लिए अनु-

कूल क्षेत्रो की व्यवस्था करना, समय अनुसार आचार के सभी भेदो का पालन करना तथा दूसरों से पालन कराना, अपने से बड़ों का विनय करना 'संग्रह-परिज्ञा-सम्पदा' है।

इन आठ संपत्तियो से आचार्य समृद्ध माना जाता है और ऐसा समृद्ध पुरुष ही 'नमो आयरियाण' के द्वारा नमस्कार पाने योग्य होता है।

आचार्य उऋण कैसे हो सकता है ? जैसे शिष्यों का आचार्य के प्रति विनयशील होना परम कर्तव्य है तभी वे शिष्य आचार्य के ऋण से उऋण हो सकते है, वैसे ही आचार्य का भी परम कर्त्तव्य है कि वह शिष्यों को विनय में प्रवृत्त करे, उन्हें संयम के प्रति निष्ठावान एवं सुशिक्षित करे, तभी आचार्य उऋण हो सकता है। अन्यथा वह निन्दा का पात्र बन जाता है। आचार्य का यह भी कर्त्तव्य है कि शिष्यों को आचार-विनय, श्रुत-विनय, विक्षेपणा-विनय और दोष-निर्घातन-विनय, इन चारो विनय-प्रतिपत्तियों से समृद्ध बनाए। इनका विवरण इस प्रकार है :—

१. आचार-विनय-प्रतिपत्ति - गणी का सबसे पहला कर्त्तव्य है कि शिष्यों को आचार-विनय मे निपुण करे। इसकी सिद्धि से शेष भेदो का सिद्ध होना निश्चित है। इस वाक्य में तीन शब्द हैं—आचार, विनय और प्रतिपत्ति। इन तीनों का भाव है आचार में आदर पूर्वक प्रवृत्ति कराना। आचार शब्द से अभिप्राय है संयम, तप, गण और विहार, इन

सब की व्यवस्था करना। इसी को आचार समाचारी कहा जाता है। जिसका आचरण समान रूप से किया जाए वही 'आचार-समाचारी' कहलाती है।

(क) संयम-समाचारी—सब प्रकार की अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्ति पाना ही संयम है। संयम का ज्ञान करना, संयम के सत्रह भेदो का स्वय पालन करना, दूसरों को पालन करने की प्रेरणा देना, सयम-पालन करनेवालो का उत्साह बढ़ाना, सयम-विमुख साधको को संयम मे स्थिर करना, 'संयम-समाचारी' है।

(ख) तप-समाचारी—तप के सभी भेदों को जानना स्वयं तप करना; तप करने वालो को उत्साहित करना, तप में स्थिर करना, सामूहिक रूप से तप करने की व्यवस्था करना "तप-समाचारी" है।

(ग) गण-समाचारी—ज्ञान और चारित्र की वृद्धि के लिए बनाए गए संघीय नियमो का पालन करना, सारणा—भूले-भटके को स्वकर्त्तव्य की स्मृति दिलाना, वारणा—धर्म-विरुद्ध आचरणों से दूसरों को रोकना, गण में रहे हुए रोगी, नवदीक्षित, स्थविर एवं दुर्बल साधकों की सेवा का पूरा-पूरा प्रबंध करना गण-समाचारी है।

(घ) एकाकी विहार-समाचारी—एकल विहारी दो तरह के होते हैं—अवगुणों से और गुणो से। इनमें जो अवगुणो

से एकल विहारी होता है, वह आचार्य की आज्ञा से नहीं होता। जो आठ गुणों से एकल विहार प्रतिमा को अंगीकार करता है, वह एकल विहारी होते हुए भी आज्ञा में होता है। एकाकी-विहार-प्रतिमा का स्वरूप जानना, उसके विधि-विधान का परिचय प्राप्त कराना, आज्ञा में रहने वाले पर सौम्य-दृष्टि रखना, दूसरों को प्रोत्साहित करना, स्वयं उनकी आराधना करना 'एकाकी विहार प्रतिमा' है। इन सभी भेद-प्रभेदो को 'आचार-विनय-प्रतिपत्ति' कहते है।

श्रुत-विनय-प्रतिपत्ति—सुनकर और पढकर जब भी शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त किया जाए, तब वह श्रुत है, उसकी ओर श्रद्धापूर्वक झुकाव होना ही श्रुत-विनय है। श्रुत-विनय से ज्ञान की प्राप्ति होती है। भगवान् की वाणी सर्वथा ज्ञेय और उपादेय होती है। भगवान की वाणी और श्रुतकेवली की वाणी का विनय करना ही तीर्थङ्कर एव अरिहन्तो का विनय है। चतुर्विध श्रीसंघ का मूलाधार जिनवाणी ही है। जिनवाणी की आशातना करना अनन्त तीर्थङ्करों की आशातना है।

(क) सूत्र वाचना—प्राकृत भाषा में 'सुत्त' शब्द के संस्कृत रूप सूत्र, सुप्त, सूक्त, इस प्रकार अनेक रूप बनते है। जो अर्थ की सूचना करता है अथवा जो अर्थरूप मोती को शब्द रूप धागे मे पिरोता है, अथवा जो मार्गप्रदर्शक हो उसे सूत्र कहते हैं। जो अर्थ को सीता है, वह भी सूत्र है। अर्थ

के बिना जिस का भाव स्पष्ट न हो, उसे वृत्ति, निर्युक्ति एव भाष्य आदि से जागृत किया जाता है। ज्ञानी के द्वारा कहे गए सुवचनों को सूक्त कहा जाता है। मूल सूत्र शिष्यों को पढ़ाना, शुद्ध उच्चारण सिखाना, व्याकरण रीति से शब्दो की व्युत्पत्ति सहित सूत्र पढ़ाना 'सूत्र-वाचना' है।

(ख) अर्थ-वाचना—इस प्रकार अर्थ को पढ़ाना, जिस से अर्थ का ज्ञान हो, सूत्रकर्त्ता के अभिप्राय को जानना, इस में क्या तथ्य छिपा हुआ है? उस तथ्य को समझाना। नय, प्रमाण, निक्षेप, लक्षण, अनेकान्तवाद आदि विधियों से अर्थ-ज्ञान सिखाना अर्थवाचना है। विधिपूर्वक अध्ययन कराने पर ही अर्थ स्पष्ट होता है।

(ग) हित-वाचना—शिष्य की बुद्धि, योग्यता, एवं अवस्था को देखकर जो उसके हित में अधिक उपयुक्त हो, उसे ही पढ़ाना हित-वाचना है।

(घ) निःशेष-वाचना—किसी भी शास्त्र को आद्योपान्त पढ़ाना, अथवा संहिता, पदार्थ, पद-विग्रह, शंका और समाधान इस क्रम से पढ़ाना, अथवा विघ्नसमूह के उपस्थित होने पर भी प्रारम्भ किए शास्त्र या विषय को पूर्ण करना निःशेष वाचना है। क्रम से शिष्यों को पढ़ाना 'श्रुतवाचना-प्रतिपत्ति' है।

श्रद्धा एवं विनय के साथ सूत्रों का अर्थ सहित अध्ययन करने से ही श्रुतज्ञान की उपलब्धि होती है।

३. विक्षेपणा-विनय-प्रतिपत्ति—जब श्रोता एवं शिष्य परदर्शन द्वारा किये जानेवाले आक्षेपों से क्षुब्ध हो जाएं, तब उनको स्वदर्शन में स्थिर करना, उनके चित्त को एक स्थान से हटाकर दूसरी ओर लगाना ही 'विक्षेपणा-विनय' है।

(क) जिसने पहले कभी सम्यग्दर्शन प्राप्त न किया हो, परन्तु सम्यग्दर्शन के प्रति अभिमुख हो, उसको धर्म-मार्ग बताकर सम्यग्दृष्टि बनाना, उसके साथ इस प्रकार प्रेम और समता का व्यवहार करना जैसे एक दृष्टपूर्व और अतीव परिचित अतिथि के साथ किया जाता है तो वह शीघ्र ही मिथ्यात्व का परित्याग करके सम्यग्दर्शन में स्थित हो जाता है।

(ख) सम्यग्दृष्टि को देशविरतित्व या सर्व-विरतित्व की ओर प्रेरित करना, उसे चारित्रवान बना कर अपना सहधर्मी बना लेना और दूसरे को अपने पथ का पथिक बनाना उसका आवश्यक कर्त्तव्य है।

(ग) किसी धर्मात्मा को किसी के द्वारा दिये गए प्रलोभन या भय से फिसलते हुए को देखकर उसे पुनः धर्म-मार्ग में स्थित करना, धर्ममार्ग में सम्भलने के लिये उसे सहारा लगाना सम्यग्दर्शन का भूषण है।

(घ) चारित्र-धर्म की वृद्धि शिष्यो मे जैसे भी संभव हो सके वैसी प्रवृत्ति करना, अथवा अहिंसा, संयम और तप

रूपी जिन-धर्म की आराधना के लिये उद्यत होना ही आचार्य का कर्त्तव्य है। चारित्र-धर्म सबके हित के लिये है, सुख के लिये है, सामर्थ्य के लिये है, मोक्ष के लिये है, और परमार्थ रूप है। इसी को विक्षेपणा-विनय प्रतिपत्ति कहते हैं।

४. दोष-निर्घातन-विनय—इस विनय का मुख्य उद्देश्य है कषाय आदि दोषों का उन्मूलन। जब किसी शिष्य में दोषों का उद्भव हो रहा हो, तब जिस विधि से दोषों का निष्कासन हो सके उसे 'दोष-निर्घातन-विनय' कहते हैं। उसके भी अनेक भेद है। जैसे कि—

(क) गण मे जब कभी कोई शिष्य क्रोधावेश मे आ जाए तो गणी का कर्त्तव्य है मीठे वचनों से उसकी क्रोधाग्नि को शान्त करे। शब्दो से ही क्रोध भड़कता है और शब्दों से ही वह शान्त होता है। जब हित एवं मधुर स्वभाव से कोई किसी को समझाता है तब क्रोध स्वय शान्त हो जाता है।

(ख) दुष्ट के दोष को दूर करना। यदि किसी शिष्य का चित्त दोषो से दूषित हो जाए तो उसको आचार और शील का उपदेश देकर दोषो को दूर करना, गणी का कर्त्तव्य है। जैसे माता बच्चे को हित-बुद्धि से समझा कर उसको सुधारती है, वैसे ही गणी भी हितभाव से शिष्य के दोषों का उन्मूलन करता है।

(ग) जिस शिष्य की आकांक्षा भोगासक्त हो, संसाराभिमुखी हो, उसकी आकांक्षा को दूर करना भी गणी का परम कर्त्तव्य है। आकांक्षा के अनेको रूप हैं—भोजन, जल, वस्त्र, पात्र, विहार, यात्रा, विद्याध्ययन आदि की आकांक्षा को अभिलषित वस्तु की प्राप्ति द्वारा निवृत्त करना, एव उचित उपायों से उसकी इच्छा को पूर्ण करना गणी का कर्तव्य है।

(घ) क्रोध, दोष, कांक्षा आदि मे प्रवृत्ति न करते हुए अपने को समाधि के सुमार्ग की ओर लगाना या जीवादि पदार्थों की अनुप्रेक्षा मे लगाना गणी का कर्त्तव्य है। जो अपने को और अपने नेश्राय में रहे हुए शिष्यों को उक्त दोषो से विमुक्त रखता है, वही आचार्य है।

धर्माचार्य को देखते ही उन्हे वन्दना-नमस्कार करना, उन्हें सत्कार-सन्मान देना, एव उन्हें कल्याण एवं मंगल का हेतु मानना, उनकी तीन योग से उपासना करना प्रासुक एव एषणीय आहार-पानी का प्रतिलाभ देना, उनकी आज्ञा का पालन करना, यह उनकी विनय-भक्ति का प्रकार है।

आचार्य तीर्थङ्कर भगवान के प्रतीक होते है, उपयोग पूर्वक उनकी कही हुई वाणी भी सत्य-पूत एवं शास्त्र-पूत हुआ करती है। आचार्य अपने को अरिहन्त भगवान का ईमानदार तथा वफादार अनुचर समझता है। मैने अपने

स्वामी की आज्ञा के विरुद्ध न सोचना है, न बोलना है और न कुछ करना ही है। मैंने जो कुछ भी करना है, वह जिनशासन के अनुरूप ही करना है, यही मेरा कर्त्तव्य है। चतुर्विध श्रीसंघ में विद्या, विनय, सेवा, संयम विवेक आदि सद्गुणों का जन-जन के जीवन मे प्रचार-सचार करना मेरा कर्त्तव्य है। आचार्य के हृदय में ऐसी भावना का होना भी अनिवार्य है।

आचार्य की आशातना न करना, अपमान, मानहानि प्रत्यनीकता ये सब आशातना के ही रूप हैं। आचार्य के प्रति मन में श्रद्धा, प्रीति रखना, वाणी से उनकी स्तुति-प्रशंसा, गुणगान करना, उनकी यशःकीर्ति में सहयोग देना, उनकी आज्ञा का पालन करना, भूल करके भी कभी उनकी आज्ञा के विरुद्ध आचरण न करना, यथाशक्य उन की वैयावृत्य करना अर्थात् श्रद्धा एवं संयमपूर्वक उनकी सेवा, सहयोग, अनुदान आदि से साता पहुंचाना आदि शिष्य के परम कर्त्तव्य हैं। आचार्य की विनय और सेवा करता हुआ साधक महानिर्जरा करता है, कर्मो आ महापर्यवसान कर देता है।

ऊपर की विवेचना आचार्य के पावनतम रूप, उसके कर्त्तव्यों और उसकी महत्ता पर प्रकाश डालती है। जैन-संस्कृति का साधक आचार्य की इसी महत्ता के चरणों में "नमो आयरियाणं" कहकर नमस्कार करता हुआ अपनी विनय-भक्ति को प्रोत्साहित कर अपने साधना-पथ को प्रशस्त करता है।

णमो उवज्झायाणं

पंचम प्रकाश

उपाध्याय की साधकों को उतनी ही आवश्यकता है जितनी आचार्य की होती है। उपाध्याय का अर्थ है वे आगम-निष्णात मुनि-वृन्द जिनके पास आकर अध्यात्म-विद्या का अध्ययन किया जाए। जिन-वाणी को स्वयं पढ़ना और दूसरों को पढ़ाना ये कर्त्तव्य उपाध्याय के हैं।

ब्राह्मणों में उपाध्याय का कुल-क्रम देखा या सुना जाता है और कुछ विश्व-विद्यालयों की ओर से भी स्नातकों को उपाध्याय पद की उपाधि दी जाती है। यहां उन उपाध्यायों से अभिप्राय नही है, जो कर्त्तव्य का पालन नहीं करते या केवल उपाध्याय पद को पाकर अभिमान की ही पोषणा कर रहे हैं, वे भी इस पद में गर्भित नहीं होते हैं। जिनके जीवन में अध्ययन और अध्यापन की ओर विशेष अभिरुचि, है, जो मनोवैज्ञानिक रीति से, शान्ति से, कोमल शब्दों से

अध्यात्म-शास्त्रों का अध्ययन कराने मे समर्थ है वे ही उपाध्याय कहे जाते है।

नमो उवज्झायण—उन उपाध्यायो को नमस्कार हो, जिनका परम-कर्त्तव्य है साधु-साध्वी आदि मुमुक्षुओं में अध्यात्म-शास्त्रों के श्रुतज्ञान से सुविद्या का प्रचार करना। श्रुतज्ञान के प्रकाश से ही मुमुक्षु अपने धर्म-साधना के पथ पर अग्रसर हो सकता है, क्योंकि ज्ञान से ही सयम और तप के आन्तरिक स्वरूप को जाना जा सकता है और आत्म-स्वरूप को भी। यदि वीतराग-वाणी का प्रकाश साधक को मिले तभी आत्मा की अनुभूति हो सकती है, क्योंकि वीतराग वाणी वस्तुत: कलिमल अपहारिणी गंगा है, इसके बिना मिथ्याज्ञान से आवृत न किसी जीव का कल्याण हुआ और न होगा ही। जब उपाध्याय द्वारा दिए गए ज्ञान के प्रकाश से जिज्ञासुओं का मस्तिष्क जगमगा उठता है, तब एक दम आत्मा में रहे हुए अनन्त-अनन्त गुणों की अनुभूति स्वत: होने लग जाती है और साथ ही वीतरागता की अनुभूति भी।

शिक्षा के अयोग्य शिष्य—

उपाध्याय भले ही पढ़ाने में कितने ही निष्णात हों, वे भी अयोग्य को योग्य नहीं बना सकते। जो शिक्षा के योग्य है उसी को योग्य बनाया जा सकता है, किन्तु जो सर्वथा अयोग्य है, उसे योग्य नहीं बनाया जा सकता। मानव अपने आप में न योग्य है और न अयोग्य, उसे अयोग्य बनानेवाले

अवगुण हैं और उन की निवृत्ति होने पर साधक स्वत: ही योग्य बन जाता है। वे अवगुण संख्या में पांच है। उनमें यदि एक का भी उदय है तो मानव कभी भी योग्य नहीं बन सकता। वे अवगुण इस प्रकार हैं, जैसे कि—

१. स्तम्भ—मन में कठोरता पैदा करने वाला यदि कोई अवगुण है तो वह अभिमान है, वह शिक्षा या विद्या आदि सद्गुणो को ग्रहण करने मे पूर्ण वाधक है, क्योंकि अभिमानी व्यक्ति किसी दूसरे को विद्वान् या पूज्य समझता ही नही है। अभिमान का स्वभाव स्तम्भ की तरह होता है। स्तम्भ किसी भी देश और काल में झुकना जानता ही नही है। किसी तूफान के आने से उस का उन्मूलन तो हो सकता है, वह टूट भी सकता है, किन्तु झुक नही सकता। वैसे ही अभिमान भी किसी गुणी-जन या आचार्य-उपाध्याय के आगे विनम्र नहीं होने देता और विनम्रता के बिना मानव शिक्षा का पात्र नहीं बन सकता, क्यों कि "तद्विद्धि प्रणिपातेन"—उस आत्म-तत्व को जानो प्रणिपात से, नमस्कार से। अत: शिक्षा-प्राप्ति में अभिमान वाधक है। स्तम्भ शिष्य में वन्दन का अभाव करता है।

२. क्रोध—क्रोध यह भी शिक्षा या विद्या-प्राप्ति का बहुत बड़ा शत्रु है। क्योंकि जब गुरु या उपाध्याय शिक्षा देते हैं, तब कभी-कभी वे शिष्यों को ऊचे-नीचे शब्दो में उपालम्भ भी दे देते हैं, उस समय यदि कोई रूठ जाए, गाली

देने लग जाए, उपाध्याय को अपमानित करने लग जाए या क्रोध के आवेश में आकर गुरु से दुर्व्यवहार करने लग जाए, या जो फिर कभी शिक्षक को देखना भी पसद नहीं करे, भला ऐसा शिष्य कैसे शिक्षा प्राप्त कर सकता है ? भले ही उपाध्याय कितने ही अध्यापन-कार्य में निष्णात हों। क्रोध शिष्य के लिये शिक्षा ग्रहण करने में पूर्ण बाधक है।

३. प्रमाद—धर्म से या विद्या से सर्वथा विमुख रहना प्रमाद है। शिक्षा की उपेक्षा करना, शिक्षा देने वाले से दूर रहना, शिक्षा-ग्रहण के लिए मन में रुचि का न होना, शौक न होना, अभ्यास न करना, कुसंगति में रहना, अवारा घूमना, खेल, तमाशे में, खाने-पीने और विकथा में समय-यापन करना, ये सभी चेष्टाएं प्रमाद की सहचारिणियां हैं। प्रमाद भी मानव को शिक्षा-प्राप्ति नहीं होने देता, वह विद्या और धर्म से साधक को दूर रखता है।

४. रोग—अस्वस्थता भी मानव को शिक्षा नहीं लेने देती। जब शरीर रोगों से ग्रस्त हो रहा हो, पीड़ा से व्याकुल हो रहा हो, तब रोग के कारण शिक्षा की चाह होते हुए भी शिष्य उपाध्याय से अध्ययन नहीं कर सकता, वह पढ़ा हुआ भी भूल जाता है। आगे का पाठ लेना रह जाता है, अतः रोग भी ज्ञान के क्षेत्र में बाधक है, क्योंकि रोग के कारण अध्ययन में व्यवधान होने से वह अधूरा रह जाता है और कुछ साधक छात्र रोग का बहाना बनाकर कक्षा में बैठते ही नहीं हैं।

आलस्य—यह अवगुण भी व्यावहारिक और धार्मिक शिक्षाओं का सबसे बड़ा शत्रु है। आलस्य का अपना स्वभाव है कि वह मानव को स्वर्णिम अवसर मिलने पर भी सब तरह के लाभ से वंचित रखता है। वह वर्तमान को सफल नही करने देता। किसी कार्य को करने के लिए उद्यत न होने देना, लेटे रहना, अंगड़ाइयां लेना, शरीर में, मन में, अकर्मण्यता का होना, अपने हिताहित की ओर ध्यान न देना, ये सब आलसियों के लक्षण हैं। आलस्य मानव का बहुत बड़ा शत्रु है, जिस पर इसकी कुदृष्टि पड़ जाती है, उसे वह कभी भी सुरक्षित नहीं रहने देता।

इन पांच अवगुणों में से किसी एक के होते हुए भी मानव अपना विकास नही कर सकता। भले ही उसे कितने ही श्रेष्ठ एवं समर्थ गुरु मिल जाएं तो भी वह किसी भी प्रकार से अपना उत्थान नहीं कर पाता, ऐसा भगवान फर्माया है।

शिक्षार्थी के आठ गुण—

मानव जिन पांच अवगुणों से शिक्षा के अयोग्य बनता है, उनका उल्लेख किया जा चुका है। जिन गुणों से वह शिक्षा के योग्य बन सकता है वे गुण आठ हैं। उनमें से यदि किसी में वे गुण स्वल्प मात्रा में भी हो, तब भी उसे योग्य ही कहा जाएगा। उपाध्याय भी योग्य को ही सुयोग्य बनाते

हैं। अवगुणों के नष्ट होने पर ही आठ गुण जीवन में प्रकट होते हैं। जैसे कि—

१. हंसी-मजाक में अधिक रस न लेना।

२. जितेन्द्रिय बनने का अभ्यास करना, सदैव इन्द्रियों का यथाशक्य दमन करना और विषयो में अनासक्त रहना, यह शिक्षाप्राप्ति का दूसरा गुण है।

३. किसी के मर्मकारी अप्रकाश्य रहस्य का अनावरण न करना, दूसरों की अपेक्षा अपने भीतर रहे हुए दोषों को दूर करने का प्रयत्न करना, यह शिक्षार्थी का तीसरा लक्षण है।

४. चाल-चलन का प्रशस्त होना, महापुरुषों की ओर से प्रशस्ति की प्राप्ति होना, यह शिक्षाग्राही का चौथा गुण है।

५. जिस संस्था में रहना, उसकी सभी मर्यादाओं का पालन करना ही शिक्षाशील का पांचवा गुण है।

६. जिह्वा का चटोरा न बनना, खान-पान में अति लोलुपी न बनना, शिक्षाशील का यही छटा गुण है।

७. सहनशील होना, शान्तचित्त रहना, क्रोध की ज्वाला को भड़कने न देना, यह शिक्षार्थी का सातवां गुण है।

८. सत्यग्राही बनकर रहना, क्योंकि सत्य-परायण व्यक्ति ही शिक्षा ग्रहण कर सकता है। यही शिक्षार्थी का आठवां गुण है।

इन आठ गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही शिक्षा का पात्र बन सकता है। ऐसे शिक्षाशील व्यक्ति को अपनी आध्यात्मिक शक्ति एवं ज्ञान के द्वारा समृद्ध बनाने मे उपाध्याय सफल हो सकते है। उपाध्याय की आज्ञा मे रहने से और अपने सुकार्यो से उन्हें प्रसन्न करने से वे बहुश्रुत सुशिष्य को रत्न-त्रय के वैभव से पूर्णतया समृद्ध बना देते हैं, जिससे सदा के लिए सुगति उसके हस्तगत हो जाती है और दु.ख तथा दुर्गति के जो मूल कारण है उन आठ कर्मो से वे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। विनीत शिष्य सर्वप्रथम उपाध्याय को यथाविधि वन्दना-नमस्कार करता है, क्योंकि विनय-भक्ति से विद्या बढ़ती है और फलवती भी होती है।

उपाध्याय की अध्यापन-विधि

शिष्य को पढ़ाते समय सब से पहले उपाध्याय जी महाराज जिस सूत्र का अध्यापन करना प्रारम्भ करते हैं, उसके नाम की व्याख्या करते है। उसके अनन्तर उसमें जो अध्ययन, शतक, स्कन्ध, स्थान, वर्ग, प्रतिपत्ति, वक्षस्कार, दशा, उद्देशक, प्राभृत, वस्तु आदि अधिकार प्रारम्भ होने वाला है, उसकी व्याख्या करना भी वे अपना कर्त्तव्य समझते हैं। उस के अनन्तर वे अनुगम की दृष्टि से अध्यापन करते है, उसका क्रम निम्नलिखित है—

१. सहिता, २. पद, ३.पदार्थ, ४. पद-विग्रह, चालना, ६. प्रत्यवस्थान, या प्रसिद्धि के माध्यम से अध्ययन

कराना अधिक महत्वपूर्ण है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. संहिता—उपाध्याय सर्व प्रथम शास्त्र के अन्तर्गत वर्णों या पाठ का शुद्ध उच्चारण करवाते हैं, क्योंकि शुद्ध उच्चारण से ही अर्थ का निर्णय होता है और निर्णीत अर्थ को जानकर ही सम्यग्ज्ञान होता है।

२. पद—अध्ययन कराते हुए यह पद सुबन्त हैं, तिङन्त है, अव्यय है या क्रियाविशेषण है, इस प्रकार से पदों का ज्ञान कराना भी अनिवार्य है। जब तक पदों का ज्ञान नहीं होता, तब तक सूत्र के अर्थ का विशिष्ट ज्ञान नहीं हो सकता।

३. पदार्थ—पद-विज्ञान के बाद प्रत्येक पद या शब्द के अर्थ का बोध कराना आवश्यकीय है। जब तक शब्द का अर्थज्ञान शिष्य को नहीं हो जाता है, तब तक उसकी प्रवृत्ति अध्ययन में नही हो सकती।

४. पद-विग्रह—अध्ययन कराते हुए जहां कहीं समस्त पद हो, वहां उसका विग्रह करके, अर्थ की संगति करना, जैसे कि—'न विद्यतेऽगारं गृह यस्येति स: अनगार:' जिस का कोई घर नहीं है, उसे अनगार कहते हैं। इस प्रकार विग्रह करके अर्थ समझना भी शिष्य के लिये आवश्यक है।

५. चालना—शब्द को या अर्थ को लक्ष्य में रख कर

प्रश्न करना, स्वयं शंका उठाना, जिससे शिष्यों के अन्तः-करण में अध्ययन के प्रति अभिरुचि एवं जिज्ञासा पैदा हो।

६. प्रत्यवस्थान—इसको दूसरे शब्दों में प्रसिद्धि भी कहते है, इसका अर्थ है धारणा या समाधान। शिष्य के द्वारा उठाए गए प्रश्नों का उत्तर देना या स्वय प्रश्न करना और स्वय ही उसका उत्तर देना, क्योकि उपाध्याय शिष्यो की योग्यता जानने के लिए स्वयं प्रश्न करते हैं और शिष्यों से उत्तर मांगते हैं।

उपाध्याय शिष्यों को अध्ययन कराते समय इस बात का विशेष ध्यान रखते है कि जो पाठ सामने आता है उसका विभागीकरण भी साथ-साथ किया जाए जैसे कि यह पाठ औत्सर्गिक है और यह आपवादिक है। यह कथन द्रव्यार्थिक नय से है और यह पर्यायार्थिक नय से। यह वचन व्यवहार-नय की अपेक्षा से कहा गया है और यह निश्चय-नय की अपेक्षा से। यह पाठ जिनकल्प की दृष्टि से है और यह स्थविर-कल्प की दृष्टि से। यह पाठ देश-चारित्र की ओर सकेत करता है और यह सर्वचारित्र की ओर। यह पाठ श्रद्धागम्य है और यह तर्कगम्य है। यह पाठ द्रव्यानुयोग को सिद्ध करता है और यह चरण-करणानुयोग को। यह धर्म-कथानुयोग के और यह गणितानुयोग के विषय का प्रतिपादन करता है। यह विषय ज्ञेय रूप और यह उपादेय रूप है तथा यह पाठ हेय को सिद्ध करता है। यह पाठ द्रव्यावश्यक का है और यह भावावश्यक को प्रमाणित करता है। यह पाठ

आगम-व्यवहारियों के लिए है, यह सूत्रव्यवहारियो के लिए एवं आज्ञा, धारणा, जीत व्यवहारियों के लिए लिखा गया है। यह पाठ स्याद्वाद एव अनेकान्तवाद को प्रमाणित करता है। इस प्रकार उपाध्याय प्रत्येक पाठ को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से इस प्रकार समझाते है, जिससे कि सूत्र-गत विषयो का स्पष्टीकरण हो सके। दुर्गम्य विषय को सुगम्य बनाना यह उपाध्याय का कर्त्तव्य है।

उपाध्याय बनाम बहुश्रुत :—

विद्वच्छिरोमणि, निर्लोभी, विनम्र. अप्रमत्त, सयमी मुनिवर को बहुश्रुत कहते है, अथवा जिसने गुरु-आम्नाय से जैन शास्त्रो तथा जैनेतर शास्त्रो का सर्वाङ्गीण अध्ययन कर लिया हो, वचन जिसने आगम-शास्त्रो का वृत्ति, बृहद्-वृत्ति, निर्युक्ति, भाष्य आदि सहित अध्ययन कर लिया हो वही बहुश्रुत है।

इसके अतिरिक्त जैनेतर दर्शन-शास्त्रो का तथा धर्म-शास्त्रों का चिन्तन मननपूर्वक स्वाध्याय किया हो, वह बहुश्रुत माना जाता है। यद्यपि बहुश्रुत का प्रयोग सभी विद्वान् मुनिवरों के लिये किया जाता है, तथापि इस शब्द का विशेष प्रयोग आचार्य एवं उपाध्याय के लिये ही होता है। पूज्य आचार्यो की अपेक्षा अधिक-तर इसका प्रयोग उपाध्याय के लिये किया जाता है, क्योंकि उनके जीवन की विशिष्ट साधना है सयमपूर्वक प्राप्त विद्वत्ता। जब कि आचार्य का मुख्य लक्ष्य है—प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप जिन-

शासन की व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाना। श्रमण भगवान महावीर ने सोलह उत्तम उपमानों से बहुश्रुत उपमेय को उपमित किया है, जैसे कि —

१. दूध की उपमा—यह उपमा आधाराधेय के सम्बन्ध से दी गई है। दक्षिणावर्त्त शंख में रखा हुआ गोदुग्ध अधिक सुशोभित होता है, क्योंकि ये दोनो उत्तम पदार्थ सफेद रंग के है। शंख मे दूध विकृत नहीं होता और देखने में भी दोनो अच्छे लगते है। शख की शोभा दूध से और दूध की शोभा शख से बढ़ती है। वैसे ही बहुश्रुत भी मगलमय धर्म से, समुज्ज्वल कीर्ति से तथा अतिशय ज्ञान से सुशोभित होता है। ज्ञान का रूप है स्वयं सत्यं शिव सुन्दरं उसे धारण करने वाला ज्ञानी जो कि शास्त्रानुकूल आचरण करनेवाला है वह भी सत्यं शिवं सुन्दरं क्यों न बन जाएगा? आचरणयुक्त ज्ञान और ज्ञानी दोनो की शोभा बढ़ती है। ज्ञान से ज्ञानी की और ज्ञानी से ज्ञान की महिमा नियमेन विस्तृत होती ही है।

२. कन्थक की उपमा—घोड़ों में सर्वोत्तम घोड़े को कन्थक कहते है। काम्बोज देश मे एक आकीर्ण जाति का घोड़ा होता है, वह सुलक्षण, सर्वाङ्ग सुन्दर, परिपुष्ट, अतिवेगवान्, सकेतों का जानकार और बलशाली होता है। बहुश्रुत भी कन्थक की तरह उत्तम जाति, कुल, रूप, बल से सम्पन्न होता है। राजयोग से सुलक्षण, सर्वाङ्ग-

सुन्दर, दूसरों के अभिप्राय को यथातथ्य समझने वाला, अध्ययन-अध्यापन करते समय अतिशीघ्रता से विषय को समझने वाला—यह अर्थ भगवान ने किस अभिप्राय से अभिव्यक्त किया है ? ऐसे प्रत्येक प्रश्न की सीमा तक शीघ्र पहुंचाने बाले उपाध्याय वेगशाली घोड़े के समान ही होते हैं। इसीलिए आकीर्ण जाति के घोड़े के साथ मिलते-जुलते समान धर्मो से बहुश्रुत को उपमित किया गया है।

३. दृढ़पराक्रमी योधा की उपमा—रणभूमि से विजय पाकर जब किसी शूरवीर का नगर की ओर से सम्मान किया जाता है, तब वह शूरवीर राजकीय शस्त्राभूषणो से सनद्ध-बद्ध। आकीर्ण जाति के घोड़े पर सवार होता है तब दोनो ओर गाए जाने वाले मगल-गीतों से लोगो द्वारा दिए जाने वाले आशीर्वादो से और दोनो ओर बजाए जाने वाले सैनिक वाद्यों से उसकी वह अजेयता प्रशसित होती है। उस शूरवीर की तरह जब शास्त्रार्थ-महारथियो को पराजित कर सर्वतोभावेन विजयी बने हुए बहुश्रुत का भी जनता की ओर से सम्मान होता है, उस समय वह सात्त्विक मन रूप घोड़े पर सवार होता है, जय-विजय की ध्वनि से प्रतिध्वनित होता हुआ जिन-मार्ग की प्रभावना करता है, अतः बहुश्रुत को शूरवीर की उपमा से उपमित किया गया है।

४. यौवन प्राप्त हाथी की उपमा—साठ वर्ष की आयु वाला हाथी किसी से भी पराजित नही होता, प्रौढ़ यौवन

हाथी चारों ओर हथिनियों के समूह से घिरा हुआ शोभा को प्राप्त होता है। उस प्रधान हाथी की तरह बहुश्रुत भी जब ज्ञान और क्रिया दोनों से सम्पन्न हो जाता है, तब वह मायिक पदार्थों एवं अधम जीवों के कुविचारों से कभी भी प्रभावित नही होता। वह अपनी ज्ञानधारा रूपी हस्तिनियों से घिरा रहता है। अत: बहुश्रुत को हाथी की उपमा से उपमित किया गया है।

५. वृषभ-रत्न की उपमा—तीखे सींगों वाला, उन्नत स्कन्ध वाला, गोब्रज का स्वामी महावृषभ अपने यूथ मे रहा हुआ जैसे शोभायमान होता है उसी तरह बहुश्रुत भी निश्चय नय और व्यवहार नय का, तथा स्वसमय और परसमय का वेत्ता एव चारित्र-धर्म से समुन्नत होकर जिन शासन के भार को उद्वहन करने मे समर्थ बनकर अपने चतुर्विध श्रीसघ मे सुशोभित होता है। बहुश्रुत और वृषभ दोनो में समान धर्म होने से बहुश्रुत को वृषभरत्न से उपमित किया गया है।

६. सिह की उपमा- जैसे तीखी दाढ़ों वाला वह सिंह जिसको पराजित करना अति कठिन है वन्य प्राणियो मे अजेय एव प्रधान होता है, वैसे ही सिंह के समान बहुश्रुत होता है। वह प्रमाण, नय, निक्षेप, सप्तभङ्गी अनुयोग, अनेकांतवाद आदि ज्ञान के साधनो से असत्यांश का विलय कर देता है। वह कभी भी अन्ययूथिक विद्वानों

से पराजित नही होता, बल्कि बहुश्रुत के तप.-तेज से अन्य यूथिक स्वय ही तितर-बितर हो जाते है, अत बहुश्रुत की सिह से दी गई उपमा भी सर्वथा समुचित ही है।

७ वासुदेव की उपमा—राजनीति के क्षेत्र में वासुदेव एक महत्त्वपूर्ण पद है। वह पांचजन्य शख, सुदर्शन-चक्र और कौमोदकी गदा, इनसे युक्त सदैव अप्रतिहत अखण्ड बलशाली होता हुआ शोभित होता है। वासुदेव की तरह बहुश्रुत भी दुर्जय होता है। वह अहिंसारूप पाच-जन्य शंख के नाद से, सयमरूप सुदर्शन-चक्र से और तपरूप कौमोदकी गदा से मोह-कर्म रूप शत्रुओ को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, अत: वासुदेव की उपमा से बहुश्रुत को उपमित किया गया है।

८. चक्रवर्ती की उपमा—राजनीति के क्षेत्र मे चक्रवर्तीपद सर्वोपरि माना जाता है। वह छ खण्ड का अधिनायक होता है, उसके आधीन चौदह रत्न और नव-निधान होते है, उसकी जय-विजय चारों दिशाओं में होती है। वह गज, अश्व, रथ और पदाति सेना से अथवा नभ-सेना, स्थल-सेना और जल-सेना से समस्त शत्रुओं को पराजित करता है। वह वैक्रियादि नाना लब्धियों से महर्द्धिक और बत्तीस हज़ार राजाओ में सर्व श्रेष्ठ राजा माना जाता है। वैसे ही बहुश्रुत भी दानशील, तप और भावरूप चतुरगिणी सेना से रागद्वेष आदि अन्तरंग

शत्रुओं का संहार करता है और चतुर्गति रूप संसार का अन्त करता है। अनेक प्रकार की लब्धियों का धारक होता है। चौदह रत्नों के समान चौदह पूर्वो का वेत्ता, नव-निधान के समान गुण-निधान होता है। उसकी यश.-कीर्ति दिग-दिगन्तों मे व्याप्त होती है, अतः बहुश्रुत भी चक्रवर्ती के तुल्य होता है।

९. शक्रेन्द्र की उपमा—देवो का सर्वोपरि शासक इन्द्र कहलाता है, वह देवो का अधिपति, हजार नेत्रों वाला होने से सहस्राक्ष है। हाथ मे वज्र होने से वज्रपाणि, दैत्यों का विदारण करने से पुरन्दर है इत्यादि अनेक सार्थक नाम इन्द्र के कहे गए है। उसकी तरह जिसके हाथ मे वज्र का लक्षण है, ज्ञान-दृष्टि हजार नेत्रो के तुल्य है, अपने पराक्रम से मोह रूप दैत्य को विदारण करनेवाला है, जिसका शासन मुमुक्षुओ पर चलता है, इन विशेषताओं से युक्त बहुश्रुत भी चतुर्विध श्रीसंघ मे सुशोभित होता है, अतः बहुश्रुत भी इन्द्र के समान होता है।

१०. सूर्य की उपमा—प्रकाशमान पदार्थो मे सब से बढ़कर सूर्य है—सूर्य अन्धकार का नाशक है, वह उदय होता हुआ तेज से देदीप्यमान होता है। उसके समान बहुश्रुत भी धर्मानुष्ठान मे सदैव अप्रमत्त रहकर अपने विलक्षण ज्ञान से तथा तप—तेज से मिथ्यात्वांधकार का नाशक होता है। उल्लू आदि पक्षियो और निशाचरो आदि

प्राणियों को सूर्य भगा देता है । बहुश्रुत के समक्ष भी कोई प्रतिवादी आंख उठाकर नहीं देख सकता, अत: बहुश्रुत के लिये सूर्य की उपमा बिल्कुल ठीक घटती है ।

११. चन्द्रमा की उपमा—सौम्य एवं प्रकाशमान पदार्थों मे सर्वोत्तम चन्द्रमा माना जाता है । वह ग्रह-नक्षत्र-तारो के मध्य पूर्णमासी की रात को अपने आप में पूर्ण होकर सुशोभित होता है । उसी तरह बहुश्रुत भी चतुर्विध श्रीसंघ मे धर्म की सोलह कलाओं से पूर्ण होकर चन्द्रमा की तरह सुशोभित होता है । पूर्णमासी के चन्द्रमा में प्रति-पूर्णता, प्रसन्नता और शीतलता आदि जितनी भी विशेषताएं होती हैं, वे सब बहुश्रुत मे भी पाई जाती हैं ।

१२. धान्यपूर्ण कोष्ठागार की उपमा—

मानव का जीवन विशेषत: अन्न पर निर्भर है । ग्राम-वासी धनाढ्य लोग प्राय: धान्यों का संग्रह खत्तियों या कोठों में किया करते हैं ताकि चूहो, ढोरों, सुरसरी आदि कीटो के उपद्रवो से धान्यो को सुरक्षित रखा जा सके । उसी तरह बहुश्रुत-ज्ञानी भी शुद्ध अन्त.करण एव मस्तिष्क में श्रुतज्ञान को सुरक्षित रखते है, उसे प्रमाद आदि के उपद्रवो से बचाए रखते हैं ।

सग्रह की हुई धान्य-राशि प्राणों का आधार होने से जनता की भलाई के लिए सुरक्षित रखी जाती है और समय आने

पर जनता की भलाई के लिए वितीर्ण भी कर दी जाती है।

बहुश्रुत भी भव्य जीवों की भलाई के लिए और अपना कल्याण करने के लिए अमूल्य ज्ञान-भंडार रखते हैं और समय-समय पर उसका उपयोग जनता की भलाई के लिए किया करते हैं। उनका ज्ञान मिथ्यात्व का नाश करने वाला होता है, अतः उपमेय रूप बहुश्रुत की धान्य-कोष्ठागार रूप उपमान से समता की गई है।

१३ जंबू वृक्ष की उपमा—

वृक्षों में सर्वोत्तम वृक्ष जम्बू वृक्ष है, जिसका दूसरा नाम सुदर्शन भी है। वह अपने आप में अद्वितीय है एवं सदैव फूलों-फलों एवं पत्रों से सुशोभित रहता है। उस पर पतझड़ का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह सौंदर्य और सुगन्ध से सम्पन्न एव देव-अधिष्ठित होता है।

उसी तरह बहुश्रुत ज्ञानी भी उत्कृष्ट ज्ञान, दर्शन और चारित्र से शोभायमान होते हैं। अन्य मुमुक्षुओं की अपेक्षा उनका ज्ञान समुन्नत होता है। परोक्षरूप में देवता भी उनकी आज्ञा का पालन करते हैं। जैसे जम्बूद्वीप की प्रसिद्धि जंबू वृक्ष से है, वैसे ही श्रीसंघ की प्रसिद्धि बहुश्रुत से होती है, अतः बहुश्रुत के लिए जबू वृक्ष की उपमा सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होती है।

१३ शीता नदी की उपमा—

हजारों-लाखों नदियो में शीता महानदी सर्वोत्तम है,

जिसका उद्भव मेरु से उत्तर दिशा में स्थित नीलवत पर्वत से हुआ है और वह पूर्व की ओर बहती हुई महाविदेह क्षेत्र को दो भागो मे विभक्त करती हुई सागर मे जा मिलती है। उसका जल पथ्य, सुपाच्य, अतिशीतल, स्वच्छ और स्वादिष्ट होता है।

उस महानदी की तरह बहुश्रुत-ज्ञानी भी सुजाति एव सुकुल में उत्पन्न होकर, क्रमश क्षमा, शान्ति, सहिष्णुता आदि सुगुणों का विकास करते हुए चतुर्विध श्रीसघ के प्रवाह के साथ सिद्धगति की ओर सतत बढते ही चले जाते है।

वह महानदी छोटी, बडी अनेक नदियों को अपने में सम्मिलित करती है, बहुश्रुत भी अपने सघ मे अनेक मुमुक्षु साधको को सम्मिलित करते हुए लक्ष्य की ओर बढते है। नदी का प्रवाह आगे ही बढ़ता है, वापिस नही आता। ज्ञानी भी साधना के पथ से आगे ही बढ़ते हैं, वे कभी पीछे नहीं हटते और न कभी भुक्त-भोगों का स्मरण ही करते हैं।

१५. मेरु की उपमा—

ऊंचाई मे मेरुपर्वत से बढ़कर इस धरातल में अन्य कोई पर्वत नही है। वह न केवल ऊंचाई मे बड़ा है अपितु ऊंचाई की जितनी भी विशेषताएं हो सकती है, वे सब उसमे है, वह भद्रशाल-वन, नन्दन-वन, सौमनस-वन और पाण्डुक-वन से युक्त है तथा रजतमय, स्वर्णमय और रत्नमय काण्डों से शोभायमान है। उत्तम से भी उत्तम जडी-बूटियो से सम्पन्न है। स्वर्ग के मनमोहक दृश्यों मे रहकर भी देव या देवियां मन

बहलाने के लिए वहां पहुंच जाते हैं।

मेरु की तरह बहुश्रुत ज्ञानी भी महत्ता की सभी विशेषताओं से सम्पन्न होता है। वह विनय-समाधि, श्रुत-समाधि, तप-समाधि और आचार-समाधि रूप चार वनों से युक्त होता है। उनकी पहली अवस्था रजतमय, दूसरी स्वर्ण-मय और तीसरी अवस्था रत्नमय काण्डों से युक्त है। वे नानाविध असाधारण लब्धियों से प्रकाशमान होते हैं। देवों के लिए भी उनका जीवन आकर्षण रूप होता है। जैसे मेरु पर्वत कल्पान्त-काल की प्रबल वायु से भी कम्पित नहीं होता, वैसे ही बहुश्रुत भी परीषह और उपसर्गों के प्रबल तूफानों के आने पर भी निष्प्रकम्प रहते हैं। अतः बहुश्रुत को मेरु की उपमा से उपमित किया गया है।

१६ स्वयंभूरमण समुद्र की उपमा—

समुद्रों में सबसे बड़ा स्वयंभूरमण समुद्र है। वह अति गम्भीर है, नाना प्रकार के रत्नों, मणियों, मोतियों से भरा हुआ है। उसमें अक्षय जल है।

उसकी तरह बहुश्रुत भी अनन्त गुणों से परिपूर्ण होता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नों से युक्त अनेक प्रकार के अतिशयों से सम्पन्न होता है। आहारक, वैक्रिय आदि लब्धियों का स्वामी होता है। गांभीर्य एवं प्रसन्नता ये दो गुण जहां होते हैं वहां सभी गुण स्वतः ही आ

जाया करते हैं, अतः गम्भीर एवं प्रशान्त बहुश्रुत में सभी गुण होते हैं।

कोई भी प्रतिवादी उन्हें जीतने में समर्थ नहीं हो सकता और न ही कोई उनका तिरस्कार ही कर सकता है। इन सब को लक्ष्य मे रखकर अंग, उपांग, मूल, छेद एवं पूर्वों के वेत्ता, जीवों के रक्षक बहुश्रुत को स्वयभूरमण समुद्र की उपमा से उपमित किया गया है।

इस प्रकार सोलह उपमाओं से शास्त्रकारो ने बहुश्रुत उपाध्याय के स्वरूप पर विशेष प्रकाश डाला है।

बहुश्रुत एक नहीं अनेक होते हैं। हो सकता है, एक ही बहुश्रुत में ये समस्त उपमाएं घटित न हो पाएं, परन्तु बहुश्रुत मुनिराजों में ऊपर वर्णित प्रायः उपमान-गुण प्राप्त हो ही जाते हैं, इन गुणों के होने पर ही तो मुनिराज सच्चे अर्थो में बहुश्रुत होते है। ये सभी उपमाएं एक बहुश्रुत में नहीं पाई जा सकतीं। जिस में जैसी-जैसी विशेषताएं होती हैं, उसके लिए वैसी-वैसी उपमाएं शास्त्रकारों ने दी हैं। इनमें से कुछ उपमाएं आचार्यों में भी घटती हैं, कुछ गुण संघ में रहनेवाले बहुश्रुत साधुओं में भी पाए जाते हैं और उपाध्यायों में तो प्रायः सभी उपर्युक्त गुण होते ही हैं।

संयम-सहित श्रुतज्ञान अमृततुल्य है, वह शास्त्रों द्वारा सत्संग द्वारा तथा महापुरुषों की अपार कृपा से प्राप्त होता है। अतः मुमुक्षु साधकों को चाहिए कि ज्ञान-प्राप्ति के लिए

निरन्तर प्रयत्नशील रहें। इसी में उनका हित और श्रेय है।

उपाध्यायों के पच्चीस गुण—

उपाध्याय ज्ञान के अक्षय भण्डार होते हैं, उनके गुणों को सीमित नहीं किया जा सकता। उनमें संख्यातीत गुण होते हैं। फिर भी दूसरों को समझाने के लिए उनके गुणों की संख्या पच्चीस बताई गई है।

जो महानुभाव शिष्यों को सर्वज्ञ भाषित और परम्परा से गणधरादि द्वारा उपदिष्ट बारह अंग पढ़ाते हैं, वे उपाध्याय कहे जाते हैं। ग्यारह अंग, बारह उपाङ्ग, चरणसत्तरि, करणसत्तरि, ये पच्चीस गुण हैं। ग्यारह अंगों के पावन नाम इस प्रकार है—

१. आचारांग, २. सुयगडांग, ३. ठाणाङ्ग, ४. समवायाङ्ग,, ५. भगवती, ६. नायाधम्मकहाओ, ७. उपासकदशा, ८. अन्तगडदशा, ९. अनुत्तरोववाई, १०. पण्हावागरणा ११. विवागसुय।

बारह उपाङ्गों के शुभ नाम हैं :—

१, उववाई, २. रायप्पसेणी, ३. जीवाभिगम, ४. पन्नवणा, ५. जबुद्दीवपण्णत्ति, ६. चन्दप्पण्णति. ७. सूरप्पण्णत्ति ८. निरयावलिया, ९. कप्पवर्डिसिया, १०: पुप्फिया, ११. पुप्फचूलिया, १२. वण्हिदसा।

चरणसत्तरि—

जिन सत्तर बोलों की आराधना सदाकाल की जाती

है, उन्हें चरणसत्तरि कहा जाता है। पांच महाव्रत, दशविध श्रमण-धर्म, सत्रह विध संयम, दस प्रकार का वैयावृत्य, नव ब्रह्मचर्य गुप्तियां, रत्नत्रय, बारह प्रकार का तप और कषाय-निग्रह, इन साधनों को चरणसत्तरि कहते हैं।

करणसत्तरि—

जिन सत्तर बोलों का आचरण प्रयोजन होने पर करना और प्रयोजन न रहने पर न करना, जैसे कि कल्पनीय आहार, वस्त्र, पात्र और शय्या, इन चारों को प्रयोजन होने पर ग्रहण करना पिण्ड-विशुद्धि है। पांच समितियां, बारह भावनाएं, बारह पडिमा, पांच इन्द्रिय-निग्रह, पच्चीस प्रतिलेखनाएं, तीन गुप्तियां तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के भेद से चार प्रकार का अभिग्रह ये सब मिलकर करणसत्तरि के सत्तर भेद होते हैं।

ग्यारह अङ्गों का और चौदह पूर्वों का अध्ययन कराने वाले बहुश्रुत ही उपाध्याय कहलाते हैं। ११+१४ दोनों संख्याओं को मिलाकर पच्चीस हो जाते हैं। पच्चीस गुण उपाध्याय के हैं।

किसी भी उपाध्याय की आशातना एवं मान-हानि न करना, हृदय में श्रद्धा-प्रीति रखना, वाणी से उनकी स्तुति-प्रशंसा करना, उनकी यश-कीर्ति का गान करना, काय से उनका मान-सम्मान, वन्दना, नमस्कार आदि करना शिष्य का परम-कर्त्तव्य है।

इस प्रकार जैन-संस्कृति उपाध्याय की महत्ता का प्रतिपादन करती हुई और उसकी गुण-गरिमा को लक्ष्य में रखती हुई "नमो उवज्झायाणं" कहकर उपाध्यायों को वन्दना करती है।

णमो लोए सव्वसाहूणं

षष्ठ प्रकाश

साधुता की साधना करनेवाला महान् साधक साधु कहलाता है। प्रत्येक मानव किसी न किसी भौतिक सिद्धि की खोज में है, किन्तु आत्म-सिद्धि की ओर ध्यान उसी साधक का जाता है जो सम्यग्दृष्टि है। जिसमें सम्यग्दर्शन का उद्भव हो चुका है, वही सम्यग्दृष्टि कहलाता है। मिथ्यात्व-मोहनीय और उसकी सहचारिणी सभी प्रकृतियों के क्षय, उपशम और क्षयोपशम से आत्मा में जो भाव-विशुद्धि होती है उसे सम्यक्-दर्शन कहते है। सम्यग्दर्शन हो जाने पर अज्ञान का अस्तित्व समाप्त हो जाता है और ज्ञान सूर्यवत् प्रकाशित हो जाता है।

सम्यग्दर्शन का क्रमिक विकास—

सभी भव्य जीवों में सम्यग्दर्शन की सत्ता विद्यमान है। जो कर्म-प्रकृतियां सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति में बाधक हैं

उन्हें हटाने में करण सहायक हैं। आत्मा के विशिष्ट परिणाम ही करण हैं। करण तीन प्रकार के हैं १. यथाप्रवृत्ति-करण, २. अपूर्व-करण और ३. अनिवृत्ति-करण। इनका परिचय इस प्रकार है—

१. आयु-कर्म के अतिरिक्त शेष सात कर्मों में प्रत्येक कर्म की स्थिति को अन्त: कोटा-कोटि सागरोपम परिमाण रखकर शेष स्थिति को क्षय कर देनेवाले सम्यग्दर्शन के अनुकूल आत्मा के परिणाम विशेष को यथाप्रवृत्ति-करण कहते है। अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि जीव कर्मों की स्थिति को इस करण में ऐसे घटाता है जैसे महानदी मे पडा हुआ पत्थर घिसते-घिसते रेत बन जाता है। इस करण के द्वारा जीव राग-द्वेष की तीव्रतम गांठ के निकट पहुंच जाता है, किन्तु उस गांठ का भेदन नहीं कर पाता है।

२. जिस परिणाम-विशेष से भव्यात्मा राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि को खोल देती है, उसे अपूर्व करण कहा जाता है। इस में यथाप्रवृत्ति-करण की अपेक्षा भावों की विशुद्धि अधिक होती है। विशुद्ध परिणामों से राग-द्वेष की तीव्रतम ग्रन्थि को छिन्न-भिन्न किया जा सकता है।

३. अपूर्वकरण से जब राग-द्वेष की ग्रन्थि टूट जाती है, तब अध्यवसाय अधिकतर विशुद्ध हो जाते हैं। इस विशुद्ध परिणाम को ही अनिवृत्ति-करण कहा जाता है। इस करण वाले जीव का सम्यग्दर्शन प्राप्त करना अवश्यभावी होता है।

अपूर्व-करण में ग्रन्थिभेद आरम्भ होता है और अनिवृत्ति-करण में ग्रन्थि-भेद की साधना पूर्ण हो जाती है। यही है सम्यग्दर्शन का क्रमिक विकास।

साधुता के भाव कैसे उत्पन्न होते हैं ?

सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के अनन्तर जब साधक अप्रत्याख्यान-कषाय-चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क रूप आठ प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय कर देता है, केवल सज्वलन-कषाय चतुष्क ही शेष रह जाता है, तब उस सम्यग्दृष्टि के विचार आत्मलक्ष्यी हो जाते हैं, आत्म-साधना की ओर उसका सजग होना अवश्यभावी हो जाता है। उसके विचार सांसारिक वासनाओं से लिप्त नहीं होते, जैसे भी कर्म-बन्धन से मुक्त हुआ जा सकता है, वह उन उपायों का प्रयोग प्रारम्भ कर देता है। उसी का नाम प्रव्रज्या अर्थात् मोक्ष की ओर प्रगति है। साधुवृत्ति का अंगीकार करना ही प्रव्रज्या है। जड़-चेतन के मोहजाल से निकल जाना ही प्रव्रज्या की सार्थकता है।

नमो लोए सव्व साहूणं—नमस्कार हो लोक में सब साधुओं को।

इस पांचवें नमस्कार-पद में "लोए" और "सव्व" ये दो विशेष शब्द जुड़े हुए हैं, जो कि अन्य पदों में नहीं हैं। अरिहन, आचार्य, उपाध्याय, ये तीन पद पांचवें पद

का ही विकसित रूप हैं। साधुत्व के अभाव में उक्त तीनों पदों की भूमिका पर किसी भी ढंग से पहुंचा नहीं जा सकता। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग की साधना करता है वही साधु है। यह पद पर-स्वभाव का निवर्त्तक है और आत्म-स्वभाव का प्रवर्तक है। इस पद की साधना करनेवाले में न जीवन का मोह रहता है और न मृत्यु का भय। उसे न इस लोक में आसक्ति होती है और न परलोक में। वह कभी शुद्ध उपयोग मे रहता है और कभी-कभी शुभ उपयोग मे भी, किन्तु अशुभ संकल्प उसके पावन मन में कभी पैदा नहीं होते। जैन धर्म व्यक्ति और वेष को इतना महत्व नहीं देता, जितना कि गुणों को प्रदान करता है, जिसमें साधुत्व के भाव हैं, जैन मान्यता के अनुसार वही साधु है। केवल गच्छ आदि में रहने से साधु-वेष धारण करने मात्रसे कोई व्यक्ति साधु नही बन सकता। इस मन्त्र के साधक की अन्तरात्मा कहती है कि मनुष्य लोक में जितने भी साधुत्व-संपन्न सच्चे अर्थों में साधु है, उन सब साधुओं को मैं नमस्कार करता हूं।

सव्व साहूणं—इस पद का दूसरा अर्थ यह भी है कि कोई औपशमिक संयमी है, कोई क्षायोपशमिक सयमी है, कोई क्षायिक संयमी है, कोई जिनकल्पस्थ है, कोई स्थविर कल्पस्थ है, कोई कल्पातीत सयमी है, कोई सामायिक चारित्री हैं, कोई छेदोपस्थापनीय चारित्री है, कोई परिहार-विशुद्धि-चारित्री है, कोई सूक्ष्म संपराय चारित्री है, कोई यथाख्यात-चारित्रवाला है, कोई प्रमत्त सयमी है, कोई अप्रमत्त सयमी है,

कोई अपूर्वकरण गुणस्थान में है, कोई नौवें गुणस्थान में है, कोई दसवें गुणस्थान में है, कोई ग्यारहवे गुणस्थान में है, कोई बारहवें गुणस्थान में है, कोई मतिज्ञानी, कोई श्रुतज्ञानी, कोई अवधिज्ञानी है, कोई मन:पर्यवज्ञानी है, कोई पांच समिति, तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचन माताओं का उपासक ज्ञानी है कोई ग्यारह अंग शास्त्रों का वेत्ता है, कोई एक पूर्व से लेकर चौदह पूर्वों का ज्ञानी है, कोई स्वयं बुद्ध है, कोई प्रत्येक बुद्ध है, कोई बुद्ध-बोधित है, कोई मूल गुणों का आराधक है, कोई उत्तरगुणों का आराधक है, कोई नवदीक्षित है कोई शिष्य है, कोई श्रमणी है, कोई गणी है, कोई प्रवर्त्तक है, कोई गणावच्छेदक है, कोई प्रवर्तिनी है, कोई अभिग्रहधारी है, कोई बहुश्रुत है, कोई जघन्य आराधक है, कोई मध्यम आराधक और कोई उत्कृष्ट आराधक है। इस प्रकार के जितने भी सयम-साधना मे तल्लीन साधु हैं, यहां सर्व शब्द से उन मबका ग्रहण हो जाता है। नमस्कार करने वाला कहता है उन सभी साधुओ को मैं नमस्कार करता हूं।

सव्व साहूणं—इस पद का संस्कृत रूप सार्व साधुओं को भी होता है। इसका भाव है—जो त्रस और स्थावर, सूक्ष्म और स्थूल, शत्रु और मित्र, सज्जन और दुर्जन, सुखी और दु.खी, धर्मात्मा और पापी, राजा और रंक, इन सब प्राणियो के पूर्ण हितैषी है, उन्हे 'सार्व साधु' कहा जाता है। मन्त्रोच्चारण करने वाला कहता है,उन को मेरा नमस्कार हो।

सव्व साहूण—का संस्कृत में तीसरा रूप "श्रव्य-साधुभ्य:" भी बनता है। सुनने योग्य प्रवचन को श्रव्य कहते हैं। वीतराग-वाणी, वीतराग भगवान की आज्ञा या गुरुदेवों की आज्ञा, ये सब सुनने योग्य है। इनके अतिरिक्त अन्य किसी प्रवचन को सुनने की उत्सुकता साधु के मन में न होनी चाहिये। जो साधु विनय, श्रुत, तप और आचार से संबधित प्रवचन सुनता है तथा अध्ययन करता है, वह "श्रव्य साधु" कहलाता है। वह कभी भी विकथाओं के बीच मे पड़कर अपने बहुमूल्य जीवन को नष्ट नहीं करता। जिस से विचार और आचार की पुष्टि न हो सके, केवल मिथ्यात्व की वृद्धि हो, कषायों का संवर्धन हो और सांसारिक बातों के झझटों का विस्तार हो, साधुत्व-पथ का पथिक मुनि ऐसी वातों मे कभी नही पडता, तभी वह अपनी साधना में सफल हो पाता है, अत: "नमस्कार हो लोक मे श्रव्य-साधुओं को" यह अर्थ भी सुसगत ही प्रतीत होता है।

"सव्व साहूणं" का चौथा संस्कृत रूप बनता है "सव्य साधुभ्य:"। सव्य का अर्थ है—दायां, लक्षणावृत्ति से इसका भाव निकलता है अनुकूल, जो साधु अरिहंत भगवान के या आचार्य के अनुकूल बर्तने वाले हैं, या सब तरह आज्ञा में विचरण करनेवाले हैं, वे मुनिवर "सव्य साधु" कहलाते हैं। अरिहतों का बताया हुआ मार्ग सुमार्ग है। शेष सभी मार्ग कुमार्ग हैं। अरिहनों की आज्ञा के अनुकूल चलने वाले सभी मुनिवरो को "सव्य साधु" कहते हैं। मनुष्य-लोक में

जितने भी सव्व-साधु हैं, उन सब को मेरा नमस्कार हो। सर्व, सार्व, श्रव्य और सव्य संस्कृत के इन चारों रूपों का प्राकृत भाषा में एक ही रूप बनता है, वह है सव्व। चारों को आधार मान कर उपर्युक्त व्याख्या की गई है।

साधु के सत्ताईस गुण

मानव की मानवता जब उत्तरोत्तर सतत वृद्धि पाती हुई मानवता की चरम सीमा पर पहुंच जाती है, तभी उसमें साधुता उत्पन्न होती है। साधक साधुत्व के लक्षणों से ही वस्तुत: साधु कहलाता है। वे सत्ताईस लक्षण इस प्रकार है।

सार्वभौम महाव्रत

जिनकी आराधना सर्वत्र और सभी कालों में समान रूप से की जाती है, उन्हे सार्वभौम महाव्रत कहते है। वे सख्या में पांच है और उनका परिचयात्मक रूप इस प्रकार है।

१. सर्वत:-प्राणातिपात-विरमण महाव्रत—किसी के प्राणो का लूटना, किसी को प्राणो से वियुक्त करना, उसका हनन करना, प्राणातिपात है और उससे सर्वथा विरक्त होना प्राणातिपात-विरमण है, जिसका पालन सर्व देश और सर्वकाल मे किया जाए उसे प्राणातिपात विरमण-महाव्रत कहते हैं।

यह एक सार्वकालिक सत्य है कि अपने प्राण सभी जीवों को प्रिय है, कोई भी जीव मरना नही चाहता, सभी जीना

चाहते हैं, जीवन-पर्यन्त सभी जीवों की न मन से हिंसा करनी, न वचन से और न काया से हिंसा करनी। दूसरों के द्वारा भी मन-वचन और काया से हिंसा नहीं कराना तथा मन, वचन और काया से हिंसक कार्यों की अनुमोदना भी न करनी। भले ही वे जीव सूक्ष्म है या स्थूल, त्रस हैं या स्थावर, शत्रु हैं या मित्र, धर्माभिमुख हैं या धर्म-विमुख, ज्ञानी हैं या अज्ञानी, सज्जन है या दुर्जन, सुखी हैं या दुःखी, सब प्राणियों की रक्षा करना सब तरह से सबका हित-चिन्तक बन कर रहना, क्षमा शील बन कर रहना, विश्वमैत्री की भावना रखना, सब का भला सोचना, प्रिय एव मधुर बोलना, भलाई करना किसी के प्रति दुर्भाव न लाना, ये सब विधि-विधान पहले महाव्रत के हैं। अहिंसा के इस आदर्श सिद्धान्त को जैनेतर धर्मों ने भी "अहिंसा परमोधर्मः" कह कर महत्व दिया है। किसी जीव की भूल कर भी हिंसा न करना ही श्रेष्ठ धर्म है, कहा भी है—

'ऋषयो ब्राह्मणा देवाः प्रशंसन्ति महामते !
अहिंसा लक्षणो धर्मो वेद-प्रामाण्य-दर्शनात् ॥

म. भा आदि पर्व अ.२ श्लो. ११४,

अर्थात् ऋषि, ब्राह्मण और देव, इन सब का यही कहना है कि वेद की प्रामाणिकता देखने से यह सिद्ध होता है कि जिसका लक्षण अहिंसा है, वही सर्वोच्च धर्म है। जिस धर्म में अहिंसा का महत्त्व न हो, वह वस्तुतः धर्म ही नहीं है।

"अद्रोहः सर्वभूतेषु, कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च, सतां धर्मः सनातनः ।।"

म. भा. शान्ति०,

अर्थात् प्राणिमात्र पर कर्म से, मन से और वाणी से मैत्री एवं प्रेम करना, किसी से भी विद्रोह की भावना न रखना, सब पर दया करना, प्राणी मात्र को अभयदान देना, यही सज्जनों का अनादि धर्म है ।

सावधानी से चलना, खड़े होना, बैठना, लेटना, इतना ही नहीं, बोलते समय भी सदैव सावधानी रखना, क्षुद्र जन्तुओं के द्वारा काटे जाने पर पीड़ा को सहन करते हुए उन जीवों को कष्ट न पहुंचाना किसी पर मन से भी क्रोध न करना, इस प्रकार की सभी क्रियाएं अहिंसा हैं ।

२. सर्वतः-मृषावाद-विरमण-महाव्रत—मृषा का अर्थ है झूठ, और वाद का अर्थ है बोलना—सब तरह के असत्य भाषण का परित्याग करना, यह दूसरा महाव्रत है । जो साधक अपने लिए वा दूसरों के लिए किसी भी स्थिति में क्रोध से, लोभ से, भय से, या हंसी से न स्वयं झूठ बोलता है, न मन, वाणी और काया से दूसरों के द्वारा असत्य भाषा बुलवाता ही है और असत्य भाषी का मन, वाणी और काया से समर्थन भी नहीं करता है, यह उसका दूसरा महाव्रत है । मौन रखना, प्रयोजन होने पर हितकर, परिमित, प्रिय एवं मधुरभाषा बोलना, ये सब उस

के परम कर्तव्य हैं। इस महाव्रत से अहिंसा धर्म की पुष्टि होती है। इसके बिना अहिंसा धर्म निर्मूल एवं निराधार है। जिस भाषा के बोलने से प्राणियों की हिंसा हो या उन्हें वेदना की अनुभूति हो, उन्हें हानि उठानी पड़े, वह चाहे असत्य हो या सत्य, उसे बोलने की अपेक्षा मौन रहना ही उचित होता है। जैसे साधक के लिए हिंसा वर्जित है, वैसे ही सूक्ष्म मृषावाद भी उसके लिए वर्जित है। असत्य सभी महापुरुषों द्वारा निन्दित है। असत्यवादी का कोई भी व्यक्ति विश्वास नहीं करता। असत्य का सर्वथा परित्याग करना ही दूसरा महाव्रत है।

३. सर्वतः-अदत्तादान-विरमण-महाव्रत—अदत्त का अर्थ है किसी के द्वारा बिना दिये हुए और आदान का अर्थ है ग्रहण करना। किसी के द्वारा बिना दिये उसकी वस्तु को ग्रहण करने का परित्याग ही तीसरा महाव्रत है। ग्राम, नगर या वन आदि कहीं पर भी, कोई भी किसी प्रकार का जड़, चेतन आदि पदार्थ हो, फिर वह चाहे स्वल्प हो या बहुत हो, सूक्ष्म हो या स्थूल हो, उसके स्वामी की आज्ञा के बिना लेना अदत्तादान है। इसके मुख्यतः चार भेद हैं—स्वामी, जीव, तीर्थङ्कर एवं गुरु।

(क) कोई भी वस्तु उस के स्वामी के द्वारा बिना दिए ही उसका ग्रहण करना अदत्तादान है।

(ख) किसी जीव के प्राणों का ग्रहण करना, अपहरण करना अदत्त है। जब कोई हिंसा करता है, तब वह जिसकी

हिंसा करता है, उसकी आज्ञा के बिना ही किया करता है, किसी के प्राण किसी से पूछ कर नहीं लिए जाते है।

(ग) किसी ग्रहीत यम-नियम को भंग करना, अकल्पनीय आहारादि का सेवन करना, गृहीत पवित्र-प्रतिज्ञाओं को तोड़ देना "तीर्थङ्कर-अदत्त" है।

(घ) वस्तु के स्वामी द्वारा निर्दोष आहारादि दिए जाने पर भी गुरु की आज्ञा के बिना पिण्ड, शय्या, वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि किसी भी पदार्थ का उपयोग शिष्य को नहीं करना चाहिये।

उपर्युक्त चारों प्रकार के अदत्तादान से सदा के लिए मन, वाणी और काय से न स्वयं चोरी करना, न दूसरे से चोरी कराना और चोरी करने वालों का समर्थन भी न करना "अदत्तादान-विरमण-महाव्रत" है।

बड़ों की आज्ञा के बिना कोई भी कार्य किया जाए वह भी चोरी है, और तो क्या भूमि पर पडा हुआ तिनका, राख आदि तुच्छ वस्तु भी आवश्यकता पड़ने पर बिना उसके स्वामी की आज्ञा लिए नहीं उठानी चाहिये। साधु को हाथ का सुच्चा और ज़बान का सच्चा होना चाहिए। किसी वस्तु को उठाना तो दूर रहा, उठाने के लिए हाथ भी आगे नहीं बढ़ाना चाहिए। किसी के पुत्र या पुत्री को माता-पिता की आज्ञा के बिना दीक्षा भी नहीं देनी चाहिये। इस से अहिंसा की पुष्टि होती है और सत्य की भी। इस महाव्रत के बिना उक्त

अहिंसा और सत्य महाव्रत की आराधना नहीं हो सकती है।

४. सर्वतः-मैथुन-विरमण-महाव्रत—स्त्री या पुरुष का पारस्परिक शारीरिक सहवास मैथुन कहलाता है। काम-वासना इसकी प्रेरक शक्ति होती है। मैथुन के विविध रूप हैं, सभी रूपों से दूर रहना, उनकी कामना तक न करना "मैथुन विरमण" है। देव-संबंधी, मनुष्य-सबंधी सभी प्रकार के मैथुन का परित्याग—मन, वचन और काया से न स्वयं मैथुन करना न दूसरों से करवाना और न मैथुन सेवन करने वाले का समर्थन ही करना। इसी को अखण्ड ब्रह्मचर्य या पूर्ण ब्रह्मचर्य भी कहते हैं। चित्त को ब्रह्म अर्थात् आत्मा में या परमात्मा में लीन करना अर्थात् शारीरिक उर्जा को बहिर्मुखता से रोकते हुए अन्तर्मुखी बनाकर आत्मस्थ होना ही ब्रह्मचर्य है और ब्रह्मचर्य की पूर्णसाधना "मैथुन-विरमण-महाव्रत" है।

काम-वासनाओं के संकल्प-विकल्प से रहित शान्त अवस्था को ब्रह्मचर्य-समाधि कहते हैं। उस समाधि की रक्षा के दस साधन बतलाए गए है। जैसे खेती की रक्षा बाड़ से होती है और कृषक हर पहलू से खेती की रक्षा करता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य की रक्षा गुप्तियों से होती है। गुप्ति का अर्थ ही बाड़ है। जिन-जिन मार्गों से ओज का प्रवाह शरीर से बाहर निकल सकता है, उन सभी मार्गों का अवरोध करना ही गुप्ति है। गुप्ति के बिना ब्रह्मचर्य की रक्षा असम्भव है।

पहली गुप्ति—जहां विपरीत लिंगी व्यक्ति हो,

पशु हो या नपुंसक हो. वहां ठहरना ब्रह्मचर्य के लिए हितकर नहीं होता है, अतः सदैव विविक्त-शयन-आसन का सेवन करना ही श्रेयस्कर है।

दूसरी गुप्ति—विपरीत-लिंगी के साथ एक आसन पर न बैठे, उसके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस स्थान पर साधु को नहीं बैठना चाहिए, विपरीत लिंगियों से संपर्क नहीं रखना चाहिये।

तीसरी गुप्ति—विपरीत लिंगियों की चर्चा न करे, क्योंकि उनकी सुन्दरता का, पहरावे का, शृंगार का, हाव-भाव का वर्णन करने से वासना उत्तेजित हो जाती है।

चौथी गुप्ति—विपरीत लिंगी के मनोहर अंगों को न देखे। सूर्य को देखने से जैसे कच्ची आंखों को हानि पहुंचती है, वैसे ही विपरीत लिंगी को देखने से ब्रह्मचर्य का भङ्ग होना या ओज का प्रवाहित हो जाना सहज हो जाता है।

पांचवीं गुप्ति—काम-वर्धक औषधियों, भोज्य एवं पेय पदार्थों का उपयोग न करे। जिसमें से घी टपक रहा हो, उसको प्रणीत एवं गरिष्ठ भोजन कहते हैं। वह विकार-जनक होता है। विकार दो तरह का होता है—रोग-वर्द्धक और वासना-वर्द्धक। जैसे दुर्बल व्यक्ति के लिए प्रणीत भोजन रोग-वर्द्धक होता है, वैसे ही प्रणीत भोजन-पानक आदि काम-वर्द्धक भी होते है। अतः ऐसे भोज्यों का परित्याग भी साधक व्यक्ति के लिये आवश्यक माना गया है।

छठी गुप्ति—रूखा-सूखा भोजन भी अधिक मात्रा में न करे; क्योंकि अधिक मात्रा में किया हुआ आहार पेट में फूल कर नाना रोगों को जन्म देता है। जिस हडिया में सेर भर चावल पक सकते हैं, यदि उसमें डेढ़ सेर चावल उबालने का प्रयत्न किया जाएगा तो उस अवस्था मे या तो हडिया नहीं या चावल नहीं। अत: रूखा आहार भी प्रमाण से अधिक नहीं करना चाहिए। अधिक आहार करने से या शरीर नहीं या ब्रह्मचर्य नहीं। दोनो की रक्षा के लिए युक्ताहार-विहार ही उपयुक्ततम साधन है।

सातवीं गुप्ति—भुक्त भोगों का स्मरण भी न करे। जैसे नींबू का स्मरण करने से मुंह में पानी और दांतों में खटास आ जाती है, वैसे ही काम-वासना-वर्द्धक किसी भी क्रीड़ा का स्मरण करने से मन में विकृति आ सकती है।

आठवीं गुप्ति—संगीत, हास्य, मज़ाक आदि विकार-जनक अश्लील बातें न तो करनी चाहिये और न सुननी ही चाहिए। जैसे बादलों की गर्जना सुनने से मोर नाचने लगता है, वैसे ही अश्लील शब्द सुनने से काम-वासना को जागृत होने का अवसर मिल जाता है।

नौवीं गुप्ति—शरीर की विभूषा न करे, क्योंकि विभूषा अर्थात् शृंगार का उद्देश्य ही दूसरों को रिझाना एवं आकर्षित करना होता है। अतः शृंगार भी ब्रह्मचर्य के लिए

घातक है। जो गुदड़ी में लाल बनके रहता है, उसी का ब्रह्मचर्य भगवद् पदवी को प्राप्त कर सकता है।

दसवीं गुप्ति—संसारी लोग प्रायः शृंगार-प्रिय होते हैं और शृंगार-प्रिय व्यक्ति की प्रत्येक चेष्टा कामोत्तेजक होती है, अतः इन्द्रियों के विषय में सदैव अनासक्त रहकर उनका उपयोग केवल इन्द्रियों की पुष्टि के लिए नहीं, अपितु ब्रह्मचर्य की पुष्टि के लिए किया जाना चाहिये।

इन दस गुप्तियों से सदाचार की रक्षा हो सकती है, इनमें यदि एक भी गुप्ति उपेक्षित हो जाती है तो वह ब्रह्मचर्य को भी असुरक्षित कर देती है।

पुरुष के लिए स्त्री विजातीय है और स्त्री के लिए पुरुष विजातीय है। सजातीय के साथ हो या विजातीय के साथ सब तरह के मैथुन का जीवन भर के लिए परित्याग करना, किसी भी प्रकार का अश्लील साहित्य न पढ़ना और न ही सुनना, यह ब्रह्मचर्य महाव्रत के लिए आवश्यक है।

सर्वतः-परिग्रह-विरमण महाव्रत—परिग्रह तीन प्रकार का होता है, इच्छा-परिग्रह, संग्रह-परिग्रह और मूर्छा-परिग्रह। वस्तु को प्राप्त करने की आशा रखना इच्छा-परिग्रह है, मिलने पर उस वस्तु का संग्रह करना संग्रह-परिग्रह है। प्राप्त एवं अधिकृत वस्तु पर ममत्व रखना मूर्छा-परिग्रह है। यदि जड़ या चेतन किसी भी पदार्थ पर ममता है तो वह परिग्रह है। जहां ममत्व है वहां इच्छा और संग्रह भी हैं,

जहां ममत्व नहीं है वहां इच्छा एवं संग्रह भी नहीं रह जाते हैं। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के जो निकटतम घातक उपकरण हैं, वे सब परिग्रह की छाया में ही पनप सकते हैं। जहां मूर्छा है वहां निश्चय ही परिग्रह है।

कनक और कामिनी ये दो परिग्रह के मुख्य अङ्ग हैं। शेष अङ्ग गौण हैं। विश्व भर में जितने भी पदार्थ है अपने आप में वे स्वयं परिग्रह नहीं है, उन्हें जब हम ममत्व का आधार बनाते है, तब वे परिग्रह का रूप धारण कर लेते है। जिस धरती और आकाश पर जिस व्यक्ति ने अधिकार जमाया हुआ है उसके उस अधिकार-क्षेत्र में सैकडों, हजारों तरह की वस्तुएं हैं, वे सब मानव-मन की ममता पाकर परिग्रह बन जाती हैं।

सचाई यह है कि ज़र, ज़ोरू, ज़मीन, ये जहां लड़ाई-झगड़े के मूल कारण है, वहां ममत्व के भी यही कारण है। उपजाऊ ज़मीन, सोना, चांदी, धन-धान्य, द्विपद, चतुष्पद, खाने-पीने, सोने-बैठने, आदि के काम में आने वाले धातु के बने हुए पदार्थ, भौतिक सुख-सामग्री के सभी पदार्थ उस समय परिग्रह में सम्मिलित हो जाते हैं, जब वे मानवीय ममता का संपर्क प्राप्त कर लेते हैं।

परिग्रह आर्त्त एवं रौद्र ध्यान का मुख्य अंग है। मन, वाणी और काया से परिग्रह न स्वयं रखना न दूसरे से रखाना और परिग्रह रखने वाले का मन, वाणी एवं काया

से समर्थन भी नहीं करना। इस तरह सब प्रकार के परिग्रह का परित्याग करना सर्वतः-परिग्रह-विरमण महाव्रत है। इस महाव्रत के बिना पहले के चार महाव्रत पूर्णतया सुरक्षित नही रह सकते है।

इन्द्रिय-निग्रह

महाव्रतों की आराधना वही साधक कर सकता है जो जितेन्द्रिय हो। जब इन्द्रिया साधक को धर्म-विरुद्ध अपने-अपने विषयों की ओर ले जाती है तब उनका निग्रह करना साधक के लिये आवश्यक हो जाता है। नहीं तो वे साधक को धर्म-भ्रष्ट कर देती हैं।

१. श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह—जिस इन्द्रिय द्वारा शब्द सुना जाता है, वह श्रोत्रेन्द्रिय है। इसके द्वारा मानव सत्यभाषा भी सुनता है, और झूठी अफवाहें भी सुना करता है। जिन-वाणी भी सुनता है एवं मिथ्यावाणी भी। धर्मोपदेश भी सुनता है एवं पापोपदेश भी। हितकर वचन भी सुनता है और अहितकर भी, इनमें सत्यभाषा, जिनवाणी, धर्मोपदेश, हित-कर वचन सुनने का निग्रह नहीं किया जाता। असत्य, अफवाहें, पापोपदेश, अधर्मवाणी और राग-द्वेष-वर्द्धक वाणी सुनने से निवृत्ति पाने के लिये श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह किया जाता है।

२. चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह—नेत्रों से जीवों की रक्षा भी की जाती है, अपना बचाव भी किया जाता है और शास्त्र-स्वाध्याय भी किया जाता है। महापुरुषों के दर्शन भी हो

सकते है, सत्य और असत्य का निर्णय भी, उत्थान और पतन दोनों मे चक्षु-इन्द्रिय सहायक है, अत: जिस वस्तु, घटना एवं व्यक्ति को देखकर पाप में प्रवृत्ति हो, उसकी ओर न देखने के लिये दृष्टि पर नियंत्रण करना चक्षुरिन्द्रिय निग्रह है।

३. घ्राणेन्द्रियनिग्रह—घ्राणेन्द्रिय-सूंघने की शक्ति वाली इन्द्रिय नाक अर्थात् इसके दो विषय है सुगन्ध और दुर्गन्ध। सुगन्ध को पाकर राग का होना और दुर्गन्ध को पाकर द्वेष का होना स्वाभाविक है। नाक से सुगन्धि या दुर्गन्धि का अनुभव करते हुए भी उन पर राग-द्वेष न करना घ्राणेन्द्रिय-निग्रह कहलाता है।

४. रसनेन्द्रियनिग्रह—जिह्वा से रस का ज्ञान भी होता है, भाषा भी बोली जा सकती है और स्पर्शनेन्द्रिय का काम भी लिया जा सकता है। इससे लोग मित्र भी बन सकते है और शत्रु भी, इससे सात्विक भोजन भी किया जाता है और अभक्ष्य एव अग्राह्य पदार्थो का आहार भी किया जाता है। सदोष-निर्दोष, कल्पनीय-अकल्पनीय आहार भी इसी से होता है। अनुकूल रसास्वादन करने पर प्रशसक बनना और प्रतिकूल रसास्वादन पर गाली देना, ये प्रक्रियाएं राग-द्वेष पूर्वक होती है। अत: वस्तु का स्वभाव जानकर उस पर राग-द्वेष न करना, इसी को रसनेन्द्रिय का निग्रह कहा जाता है। धर्म-विरुद्ध भाषा न बोलना भी जिह्वेन्द्रिय-निग्रह का एक रूप है।

५. स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह—जिस इन्द्रिय के द्वारा

हम सुकोमल, कठोर, हल्का, भारी, शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध आदि का ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह स्पर्शनेन्द्रिय है। शरीर की त्वचा को ही स्पर्शनेन्द्रिय कहते है। ज्ञान प्राप्त करना असंयम नहीं है, ज्ञात वस्तुओं पर राग-द्वेष करना असंयम है। राग-द्वेष का किसी भी स्पर्श में अवतरण न होने देना स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह है।

जो साधक पांचों इन्द्रियों का निग्रह कर लेता है, इष्ट और अनिष्ट शब्द सुनकर भी सुरूप और कुरूप को देखकर भी, सुगन्ध और दुर्गन्ध को सूंघ कर भी, अनुकूल और प्रतिकूल रस को चख कर भी तथा इष्ट और अनिष्ट पदार्थ को छूकर भी, उस पर न तो आसक्ति करता है और न ही उससे घृणा करता है, वही साधु है और उसी में वन्दनीय साधुता है। जितेन्द्रिय व्यक्ति ही कषायों से मुक्ति पा सकता है और वही महाव्रतों का आराधक भी हो सकता है।

कषाय-विवेक

इन्द्रियों का निग्रह बिना कषाय-विवेक के नहीं हो सकता। कषायों का सर्व प्रथम प्रभाव मन पर ही पड़ता है, उसके बाद उनकी छाया इन्द्रियों पर पड़ती है तथा राग-द्वेष का आकर्षण-विकर्षण होने लगता है। जिस भूमिका में पहुंचकर साधक-मन आकर्षण-विकर्षण से रहित हो जाता है, उसी को विवेक कहते है, अतः अब कषाय-विवेक का विवेचन किया जाता है।

(क) क्रोध-विवेक – क्रोध, मात्सर्य, ईर्ष्या, द्वेष, ये सब एक ही जड़ की शाखाएं है। क्रोध के स्वरूप को तथा उससे होनेवाले अनर्थों को जानकर उनसे निवृत्ति पाना या मन को उससे अछूता रखना क्रोध-विवेक है। निमित्त मिलने पर भी क्रोध को उत्पन्न न होने देना, यदि उत्पन्न हो जाय तो उसे शान्ति, क्षमा, सहनशीलता से निष्फल करना, उसका आवेश शब्दों मे न आने देना, भड़के हुए क्रोध का सम्यग्ज्ञान से शमन करना, स्व एवं पर की हानि न होने देना, मन की शान्ति को भंग न होने देना, इत्यादि रूपों में विवेक द्वारा क्रोध को निष्फल करना ही क्रोध-विवेक कहा जाता है।

(ख) मान-विवेक—अहंकार का पर्यायान्तर शब्द मान है। यह विकार मन में, शरीर में और गर्दन में अकड़ पैदा करता है, जिस से अभिमानी व्यक्ति अपने को सर्वोपरि समझते हुए और दूसरों को तुच्छ मानता है। वह अपना तो सम्मान चाहता है, दूसरे का नहीं। वह दूसरे की किसी तरह की समुन्नति सहन नही कर सकता। अभिमानी व्यक्ति मानव-धर्म से तथा पूज्य जनों से विमुख हो जाता है, अभिमानी व्यक्ति के जीवन में विनय एवं विनम्रता का प्रवेश नहीं हो सकता। अतः अभिमान न होने देना, उत्पन्न हुए को विफल कर देना, 'मान-विवेक' है। जो अभिमान में चूर रहते हैं, उन्हे अपमान के थपेड़े भी खाने पड़ते है,

क्योंकि द्वन्द्वात्मक जगत में मान के दूसरे छोर पर अपमान भी अवश्य रहता है, जिन निमित्त कारणों से अभिमान जागृत हो सकता है, उनके मिल जाने पर भी जीवन में अभिमान एवं अहंभाव को उत्पन्न न होने देना ही साधुता है और यह साधुता मान-विवेक की साधना द्वारा ही प्राप्त हो सकती है।

(ग) माया-विवेक—माया अर्थात् कपट एक भयंकर विकार है, इस मे पर-वञ्चकता तो होती ही है, साथ ही आत्मवञ्चकता भी हुआ करती है। इसका प्रयोग प्राय: हिंसक, शिकारी, असत्यवादी, चोर, दुराचारी, लोभी तो करते ही है, किन्तु ज्येष्ठ एव श्रेष्ठ होने के लालच मे व्यक्ति दान, शील और तप मे भी माया-कपट करने लग जाते है। यही कपट आत्म-वञ्चना है। 'माया मित्ताणि नासेइ'—माया मैत्री का नाश कर देती है, कपट-पूर्ण व्यवहार किसी को भी अच्छा नही लगता। कपटी मानव सोचता कुछ है, बोलता कुछ है तथा व्यवहार कुछ और ही प्रकार का करता है, अत: धर्म-कार्यों मे यह माया बाधक ही है। कपट से मन, वाणी और शरीर-व्यवहार को अछूता रखना ही माया-विवेक है।

(घ) लोभ-विवेक—जब मानव भौतिक पदार्थों के प्रति आकृष्ट होता है, तब उसे लोभ कहते हैं। किसी को सांसारिक लोभ पीड़ित कर रहा है और किसी को पारलौकिक लोभ। भौतिक सुख सामग्री की प्राप्ति की ओर आकृष्ट करने में लोभ सब से आगे रहता है। विद्या और चारित्र के क्षेत्र

में आगे बढ़ने की अभिलाषा लोभ नही, वह तो साधना है, अत: इनके लिए लोभ का प्रयोग नहीं किया जाता है। साधनाकाल में लोभ ही ऐसा बाधक तत्त्व है जो साधक को आगे नहीं बढ़ने देता और पाप-कर्मों के प्रति आकर्षण बनाए रखता है। हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार एव परिग्रह आदि सब पाप-कार्यों मे लोभ ही मानव-मन को प्रवृत्त कराता है। सयम-साधना में लोभ का प्रवेश न होने देना ही लोभ-विवेक है। संतोष की पावन परिधि मे प्रवेश पाना ही विवेक की उपयोगिता है। विवेक से भावों में सत्य सूर्य भगवान् की तरह जगमगाने लग जाता है अब उसी भावसत्य का वर्णन करते हैं।

१५. भाव-सत्य— जब अन्त:करण सत्य से ओत-प्रोत हो जाता है, तब किसी भी प्रकारकी मलिनता मन मे नही रह जाती है, जब धर्मध्यान और शुक्लध्यान से तथा अनुप्रेक्षा से भावों की शुद्धि होती है उसे भाव-सत्य कहा जाता है। सम्यग् दर्शन से सत्य जगमगा उठता है और मिथ्या-दशन की विद्यमानता में द्रव्य-सत्य तो हो सकता है, भावसत्य नही। शरद् ऋतु में जैसे पानी शुद्ध एव स्वच्छ होता है, वैसे ही सतो का अन्तःकरण शुद्ध होता है। जब भावो में सत्य है तो क्रिया में उस का उदय होना निश्चित है, अत: अब करण-सत्य का वर्णन किया जाता है।

१६. करणसत्य – वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों की प्रतिलेखना तथा अन्य बाह्य क्रियाओं में शुद्ध उपयोग पूर्वक प्रवृत्ति करना करण-सत्य है, अथवा जिस क्रिया में

माया-चारिता नहीं होती है, वह करण सत्य है। इसकी सिद्धि होने पर योग-सत्य का होना अनिवार्य है।

१७. योग सत्य—जो सत्य मन में हो, वही वाणी में हो और वही शारीरिक क्रियाओं मे हो। अथवा मन की शुभ प्रवृत्ति को ही योगसत्य कहा जाता है। इससे जीवन मे नि.सीम क्षमा का अवतरण हो जाता है।

१८. क्षमा—अहंकार छोड़ने पर क्षमा-याचना की भावना जागृत हो जाती है, क्रोध एवं अभिमान छोड़ने पर ही दूसरे को क्षमा किया जा सकता है, अतः विनम्रता और उदारता ये दो क्षमा के मुख्य अंग हैं। "क्षमा वीरस्य भूषणम्" इसलिए साधुता की कसौटी भी क्षमा ही है, अतः यह गुण साधु मे होना अनिवार्य है।

क्षमा का उदय अभिमान और सांसारिकता से विरक्त होने पर ही होता है, अतः अब विरक्ति का स्वरूप बतलाया जाता है।

१९. विरागता – सांसारिक कामधन्धों से, काम-भोगों के आरम्भ एव परिग्रह से अथवा जगत की एवं काम की असारता के ज्ञान से विरक्ति धारण करना ही विरागता है। सांसारिक काम-भोगो तथा स्वर्गीय काम-भोगों से पूर्णतया विरक्त होने की प्रक्रिया ही विरागता है। परम एवं चरम लक्ष्य की ओर अभिमुख होना ही एकाग्रता है। अतः अब मन की एकाग्रता का वर्णन करते हैं।

२०. मन:समाधारणता—समाधारणता, यह जैनागमों का पारिभाषिक शब्द है। योगों की एकाग्रता, जिससे अशुभ और शुभ दोनों कर्म-प्रकृतियों का प्रवाह रुक जाए, केवल कर्म-निर्जरा की प्रक्रिया शेष रह जाय तो उस अवस्था का नाम समाधारणता है। मन ो आगमोक्त सद्भावों में भली-भांति लगाना, मन:-समाधारणता है। इस से मन एकाग्र हो जाता है। जब मन ज्ञान के विविध प्रकारो में सलग्न हो जाता है, तब सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है और मिथ्यादर्शन सर्वथा क्षीण हो जाता है।

२१. वचन-समाधारणता—वाणी को स्वाध्याय में भली भांति लगाना वचन-समाधारणता है। इसके द्वारा जीव सम्यग्दर्शन के प्रकारो को विशुद्ध करता है। बोधि की सुलभता को प्राप्त करता है और दुर्लभ बोधि कर्म-प्रकृतियों को क्षीण करता है।

२२. काय समाधारणता—संयम-योगों मे काया को अच्छी तरह लगाना काय-समाधारणता है। इस से साधक चारित्र के सभी प्रकारों को विशुद्ध करता है। वह इतनी विशुद्धि कर लेता है जिस में उसे यथाख्यात चारित्र अर्थात् वीतरागता की प्राप्ति हो जाती है। जब वीतरागता अंत-मुर्हूत की सीमा का अतिक्रमण कर नि:सीम हो जाती है, तब साधक आठों कर्मो से सर्वथा मुक्त हो जाता है। सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर साधक सब दुखों का अंत कर देता है।

पूर्वोक्त तीन प्रकार की एकाग्रता को प्राप्त करना साधक का लक्ष्य है। जिन साधनो से एकाग्रता हो सकती है अब उनका उल्लेख किया जाता है।

२३. ज्ञान-संपन्नता—सम्यग्ज्ञान से साधक सब पदार्थों को भली-भांति जान लेता है, जैसे धागे में पिरोई हुई सुई कूड़े-कचरे में गिरने पर भी गुम नहीं होती, वैसे ही शास्त्रीय ज्ञान को पाकर जीव संसार रूप महावन में भटक कर विनष्ट नहीं होता एवं विशिष्ट ज्ञान, विनय, तप एवं चारित्र के योगों को प्राप्त करता है। इतना ही नहीं वह साधक स्वदर्शन और परदर्शन में प्रामाणिकता भी प्राप्त कर लेता है, उसका कहा हुआ वचन सर्वमान्य बन जाता है।

२४. दर्शन-सपन्नता—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से साधक संसार-परिभ्रमण के हेतु-भूत मिथ्यात्व का उच्छेद करता है, उसके क्षय होने से क्षायिक सम्यग्दर्शन अर्थात् कभी भी न बुझने वाली ज्योति की प्राप्ति हो जाती है, इससे जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र से अपने आप को संजोये रखता है। उन्हें सम्यक् प्रकार से आत्मसात् करता हुआ विहरण करता है।

२५. चारित्र-सपन्नता—रत्नत्रय के अनुरूप आचरण चारित्र है और इस की उपयोगिता धर्मध्यान से शुक्लध्यान तक पहुंच कर सभी कर्मों का परिक्षय करने में ही है।

कषायों को बलहीन कर देने पर कार्मण शरीर में प्रवेश करते हुए नवीन कर्मों का सवरण हो जाता है और पूर्व-कृत कर्मक्षय हो जाते हैं। संयम और तप इन दोनों का समावेश चारित्र में हो जाता है। ज्ञानादि रत्नत्रय से महावेदना के उपस्थित होने पर सहनशक्ति बढ़ जाती है, अब उसी का उल्लेख किया जाता है।

२६. वेदनातिसहनता—प्रतिकूल परीषह एवं उपसर्गों के उपस्थित होने पर यदि किसी भी प्रकार की वेदना, कष्ट, आधि-व्याधि आदि विविध दु:ख उत्पन्न हो जाएं, तब उन्हें अपने पूर्वकृत कर्मों का फल जानकर समभाव से सहन करना, मन से भी किसी पर द्वेष न करना ही साधुता की पहचान है। सहनशक्ति की पराकाष्ठा ही साधुता की पूर्ण पहचान है। वेदना सहने वाले साधक मृत्यु का भी सहर्ष-आह्वान करते हैं।

२७. मारणान्तिकातिसहनता—जिसको जीने की आशा नहीं और मरण का भय नहीं, वह मृत्यु को आते देखकर घबराता नहीं है। जो मानव अपने जीवन-काल में सदैव दु:खों एवं मृत्यु से परिचय बनाए रखता है वह उनके आने पर भी भयभीत नहीं होता, उसे न कोई दु:ख डरा सकता है और न मृत्यु ही। अत: मारणान्तिक कष्टों को भी समता से सहन करना साधुता ही है। साधु-जीवन गृहस्थ जीवन से बहुत ऊंचा है, साधु की भावना और गुण दोनों वीतरागता

को स्पर्श करनेवाले होते हैं। शरीर पर जितना राग न्यूनतम होगा, दुःखानुभव उतना ही कम होगा और निमित्त कारण मिलने पर द्वेष भी उतना ही कम होगा। जिसका शरीर पर राग नहीं, वह कष्टों से और मृत्यु से बिल्कुल भयभीत नहीं होता और न मारणान्तिक वेदना ही उसको लक्ष्य से परिभ्रष्ट कर सकती है। समभाव ही साधु का सब से बड़ा आश्रय है। सदैव मध्यस्थ बन के रहना ही समता है।

प्रकारान्तर से साधु के सत्ताईस गुण

आचार्य हरिभद्र ने हरिभद्रीय आवश्यक भाष्य मे जिन सत्ताईस गुणों की नामावली दी है, उसमें कुछ तो वही के वही गुण है जिनका नामनिर्देश ऊपर किया जा चुका है और कुछ नए भी है। जिन गुणों की व्याख्या हो चुकी है उनका पुनः विवेचन पुनरुक्ति के कारण न करके उनका तो केवल नाम निर्देश कर देना ही उचित समझता हूं। जिन की विवेचना पहले नहीं हुई उनका ही विश्लेषण यहां पर किया जा रहा है—

१. अहिंसा महाव्रत, २. सत्य महाव्रत, ३. अस्तेय महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत, ५. अपरिग्रह महाव्रत।

तीन शब्द हैं—व्रत, अणुव्रत और महाव्रत। आन्तरिक एवं बाह्य दोषों, पापों तथा भूलों से निवृत्त होना व्रत है, आंशिकरूप से उनका त्याग करना अणुव्रत है और पूर्णतया उनका त्याग करना महाव्रत है।

गुण आत्मा की अपनी निधि हैं जब कि अवगुण उस पर पड़े हुए आवरण हैं। वे आवरण कर्म-जन्य एवं औपाधिक होते हैं।

महाव्रत मूलगुण हैं, जिन गुणों से मूलगुण विकसित एवं सुरक्षित रह सकें, उन्हें उत्तरगुण कहा जाता है। उत्तरगुणों में तप के सभी भेदो का समावेश हो जाता है।

तप दो तरह से किया जाता है अनिवार्य और ऐच्छिक पूर्णतया रात्रि-भोजन का परित्याग करना भी साधुता के लिए अनिवार्य है। रात्रि मे सूर्यास्त होने से लेकर सूर्योदय होने तक किसी भी प्रकार का आहार-पानी नहीं, करना, नित्य तप है। ऐच्छिक तप जब भी करना होता है, तब दिन में ही किया जाता है रात को नही क्योंकि अनिवार्य तप मूलगुणों का पोषक एव संवर्द्धक होता है।

६. सर्वतः-रात्रि-भोजन-विरमण व्रत—साधु के लिये सर्व प्रकार के रात्रि-भोजन से जीवनभर के लिए विरक्त होना भी अनिवार्य है। आहार चार प्रकार का होता है अशनं—अन्न, पाणं—पानी, खाइमं—अन्न के अतिरिक्त खाद्य पदार्थ, साइमं—अचार-चटनी चूर्ण, आदि स्वादिष्ट पदार्थ—इन सब का न तो रात्रि में ग्रहण करना, न ही इनका सेवन करना और न ही रात को अगले दिन के लिये अपने पास रखना साधु का परम धर्म है। क्योंकि रात्रि-भोजन में प्राणातिपात आदि की संभावना होने से संदोषता

सिद्ध होती है। रात्रि-भोजन अंधा होता है, अतः उस में अनेकों दोष होने की सम्भावना बनी रहती है, जैसे कि रात को भिक्षा लेने के लिए घरों में जाने से पहला महाव्रत क्षति-ग्रस्त हो जाता है। रात को शर्म न रहने से चौथा महाव्रत भी सुरक्षित नहीं रह सकता, रात्रि-भोजन करने से जीव-जन्तु दृष्टिगत नहीं होते, चिकनाई के कारण कीड़ी आदि विषैले जन्तुओं के खाने से स्मरण-शक्ति नष्ट हो जाती है। यदि भोजन में बाल हो तो वह स्वर-भंग कर देता है, जूं-लीख आदि भोजन में हों तो जलोदर रोग होता है, भोजन में मक्खी का कलेवर हो तो उल्टी आ जाती है। इत्यादि अनेक अनिष्ट हो सकते हैं रात्रि-भोजन से। दिन में भी इन अनिष्ट कारणों से बचाव तभी हो सकता है,जबकि विवेक का प्रकाश साथ मिला हो। सचाई यह है कि दिन में भी अन्धकार में बैठ कर आहार नहीं करना चाहिए। रात्रि को भोजन-पानी आदि रखने से अपरिग्रह व्रत भी खडित हो जाता है। जिन त्रस और स्थावर जीवों की रक्षा दिन में भी बड़ी सावधानी से हो सकती है, भला उनकी रक्षा रात को कैसे हो सकेगी ? अतः रात्रि को न विहार करना, न भिक्षा के लिए जाना और बिना पडिलेहे उपाश्रय से बाहर भी नहीं जाना चाहिये। रात्रि-भोजन से इन सब व्रतों का परित्याग स्वतः ही हो जाता है। रात को आहार का सेवन न करने से आधी आयु तप में बीत जाती है।

रात्रि-भोजन न स्वयं मन-वाणी और काय से करना;

न दूसरों को रात्रि-भोजन के लिए कहना और रात्रि-भोजन करनेवाले का मन, वचन और काय से समर्थन भी नहीं करना। जैसे कबूतर आदि पक्षी रात को न खाते हैं और न पीते ही हैं, अपने नीड में खाने-पीने की वस्तुएं रात को संग्रह करके भी नहीं रखते, यही रीति साधुओं की है।

७. श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह, ८. चक्षुरिन्द्रिय निग्रह, ९. घ्राणेन्द्रिय निग्रह, १०. रसनेन्द्रिय निग्रह, ११. स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह। इन्द्रियों के इष्ट शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श आदि विषयों पर राग न करना तथा अनिष्ट विषयों पर द्वेष न करना ही इस इन्द्रिय-निग्रह का लक्ष्य है।

१२. भाव-सत्य, १३. करण-सत्य, १४. क्षमा, १५. अविरोधता, १६. मन की शुभप्रवृत्ति, १७. वचन की शुभ प्रवृत्ति, १८. काय की शुभ प्रवृत्ति, इनका विवेचन, पहले किया जा चुका है।

अनगार—साधु को छोटी-छोटी बातों में भी पूर्ण-विवेक रखने की आवश्यकता होती है। साथ ही साधु को सदा अप्रमत्त (जागृत) रहकर अपनी वृत्तियों के प्रति उसे सूक्ष्म निरीक्षण बुद्धि रखनी चाहिए, ताकि कोई छोटी-सी भूल भी न हो सके, क्योंकि जरा-सी भी भूल के प्रति की गई उपेक्षा भयंकर भूल का कारण बन जाती है। साधु पूर्ण अहिंसक होता है, उसका अहिंसा का क्षेत्र आकाश की तरह महान् है, वह न केवल मनुष्यों या पशुओं तक ही रक्षा करने का

अपना उत्तरदायित्व समझता है बल्कि वह पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति आदि अव्यक्त चेतना वाले जीवों की सुरक्षा का भी पूर्ण ध्यान रखता है।

१६. पृथिवीकाय—यावन्मात्र खनिज पदार्थ हैं, वे दो तरह के हैं—सचेतन और अचेतन। स्वकाय से या परकाय से जो पृथ्वी अचित हो गई है, वह अचेतन है, शेष सब सचेतन हैं। जो सचेतन हैं वे वृद्धि को पाते हैं। खानों में पड़े हुए धातु, रत्न, पत्थर, मिट्टी, सब संवर्धित होते हैं। गेरू, पाण्डु, हरताल नमक, वज्री इत्यादि सभी पदार्थ सचित होने से इनका उपयोग साधु अपने या दूसरे के लिये नहीं करता, उनकी हिंसा से भी उतना ही बचाव करता है, जितना कि मनुष्य की हिंसा से। जो लक्षण जीव में पाए जाते हैं, पृथिवी-काय में भी वे ही लक्षण पाए जाते हैं, अतः मनुष्यादि की तरह पृथिवी-काय को भी सचित समझना चाहिए। जैसे कोई मनुष्य आंखों से हीन है, कानों से बहरा हैं और वाणी से मूक है, यदि कोई उसे मारे-पीटे या उसके किसी भी अवयव का छेदन करे या भाले आदि से वींधे तो वह भयभीत होता है और दुःखानुभव करता है, पर कह कुछ नहीं पाता, वैसे ही पृथिवी कायिक जीव भी दुःख अनुभव करते हैं, पर उसे व्यक्त नहीं कर पाते। अतः साधु पृथिवी-कायिक जीवों की भी न स्वय मन-वाणी और काय से हिंसा करते हैं, न दूसरे से हिंसा कराते हैं और पृथिवीकायिक जीवों की हिंसा करते हुओं का मन- वाणी और काय से

अनुमोदन भी नहीं करते ।

२०. अप्काय—जल-काय भी जीव रूप है। ओस, बर्फ, ओले, फुहार, धुन्ध, कूप, नदी, सरोवर, नल, झरना, झील इत्यादि जलाशयों का पानी सचित्त ही होता है। जो जल स्वकाय-परकाय के द्वारा अचित्त हो गया है वह जल प्रासुक जल कहलाता है। गर्म जल, फिल्टर किया हुआ जल, नमक और मीठे से मिश्रित जल, भस्म एवं चूने से मिश्रित इत्यादि प्रकार का जल भी प्रासुक कहलाता है। शेष सब सचित्त जल अप्काय हैं। अप्काय की हिंसा करता हुआ प्राणी छहों की हिंसा करता है। अप्काय की हिंसा साधु न स्वयं मन-वाणी और काय से करते हैं, न दूसरे से हिंसा कराते हैं और न अप्काय की हिंसा करनेवाले की अनुमोदना ही करते हैं।

२१. तेजस्काय—अप्काय की तरह तेजस्काय भी सचेतन है। जिन प्रमाणों से जीव सामान्य की सिद्धि होती है, वे ही प्रमाण अग्नि को भी सचेतन सिद्ध करते हैं। तैजस् में उष्णता, प्रकाश और क्रिया करने की शक्ति है। लकड़ी की अग्नि, उपलों या मेंगनों की अग्नि, कोयले की अग्नि, घास की अग्नि, गैस की अग्नि, बारूद, आतिशबाजी एवं फुलझड़ी की अग्नि, धमन भट्टी में पिघलाई हुई गरम धातु, बिजली, उल्का, आकाश से गिरते हुए तेजपुंज, इत्यादि सभी अग्निरूप तेजस्काय सचित अग्नि के ही भेद हैं। यह सभी प्राणियों का

शस्त्र है, इससे सभी भयभीत होते हैं। इसके सुलगाने और बुझाने में साधु का कोई दखल नही है। अपने किसी भी काम के लिए साधु अग्नि का उपयोग नहीं करते। न दीपक जगाते हैं, न भोजन पकाते हैं, और न पानी गर्म करते हैं, इतना ही नही सुलफा, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, हुक्का आदि सभी नशीले धूम्रपान उससे छूट जाते हैं। मन-वाणी और काय से साधु तेजस्काय की हिंसा न स्वयं करते हैं, न दूसरों से हिंसा कराते हैं और हिंसा करने वाले की अनुमोदना भी नहीं करते हैं। संघट्टे का आहार-पानी भी वे नहीं ग्रहण करते। सर्दी के दिनो में वे आग को सेकते भी नहीं हैं।

२२. वायुकाय—द्वीप की हवा, समुद्री हवा, आंधी तूफान, बावरोला, झंझावात, घनवात, तनुवात, इत्यादि रूपों में अस्तित्व रखनेवाले वायुकायिक भी जीव हैं। यह सत्य है संसार के सभी प्राणी वायु के आश्रित हैं। अनगार अपनी सुख-सुविधा के लिए हाथ से, मुंह से या बाह्य किसी साधन से हवा नहीं करते। भले ही कितनी ही गर्मी क्यों न पड़ती हो, वे वायुकाय की विराधना न स्वयं करते हैं, न दूसरों से वायुकाय की हिंसा कराते हैं। वे वायुकाय की हिंसा करनेवाले की अनुमोदना भी नहीं करते।

२३. वनस्पतिकाय—बीज, कंद, मूल, पत्र, फूल, फल आदि सब वनस्पतिकाय हैं। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जगदीश चन्द्र वसु ने सारे वैज्ञानिक संसार को वनस्पति में

चेतनता मानने के लिए बाध्य कर दिया, उन्होंने अपने वैज्ञानिक साधनों द्वारा यह प्रत्यक्ष करा दिया कि वनस्पति में क्रोध हर्ष, विषाद, हास्य, राग, काम आदि भाव मनुष्य की तरह ही पाए जाते हैं। वनस्पतियां प्रशंसा करने से प्रसन्न और गाली, निन्दा करने से क्रोध करती हुई दिखाई देती हैं। छोटे-बड़े सभी पौधे वृद्धि पाते हैं, ये सभी लक्षण सचेतनता के हैं। अतः साधु वनस्पति का खाना-पीना तो दूर रहा वनस्पति को छूते भी नही हैं, न उन पर चलते हैं, न खड़े होते हैं और न लेटते हैं। जो भोजन गृहस्थ के घर में पकता है, उसी मे से वे निर्दोष आहार-पानी लेते हैं। साधु मन-वाणी और काय से वनस्पति की हिंसा न स्वय करते हैं, न दूसरे से कराते है और वनस्पति की हिंसा करने वाले की अनुमोदना भी नही करते है। यह भेद-भाव-मुक्त असीम करुणा ही तो साधना का शृगार है।

पृथिवी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति इन कायों की संज्ञा स्थावर है। इन जीवो के एक स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है।

२४. त्रसकाय—जिन जीवों की स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां हों, उन्हें द्वीन्द्रिय कहते है। जिनकी स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां हैं, वे जन्तु त्रीन्दिय कहे जाते हैं। जिनकी स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियां हैं, वे चतुरिन्द्रिय जीव माने जाते हैं। जिनकी सभी

इन्द्रियां हैं, वे पंचेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं। इन सभी प्राणियों को त्रस कहा जाता है। इनमें भी कुछ चाक्षुष हैं और कुछ अचाक्षुष, अणुवीक्षण यन्त्र के द्वारा भी जिन का प्रत्यक्ष हो सकता है, वे सब जीव चाक्षुष है, शेष अचाक्षुष हैं।

जो जीवों के अस्तित्व को स्वीकार करता है, वह उनके द्वारा की जानेवाली सुख-दुःख की अनुभूति को भी मानता है। जो जीव किसी प्रबल व्यक्ति से भय-भीत होता है, धूप से छाया मे और छाया से धूप में स्वेच्छया जा सकता है और आ सकता है, वह त्रस है। सभी जीवों को दुःख अप्रिय है, सभी को सुख प्रिय है और सभी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। अतः साधु के हृदय मे उनके लिये अनन्त अनुकंपा होती है। साधु सब का भला सोचते हैं, बुरा नहीं, किसी का भी अहित नहीं चाहते। यदि कभी काम पड़े तो वे अपनी बलि देकर भी जीवों की रक्षा करते है। मेरे से उनकी किसी तरह पीड़ा या हिंसा न हो जाए, इसी उद्देश्य से वे यतना एवं ध्यान से चलते हैं। उनका उठना, बैठना, लेटना, खाना-पीना, बोलना, ये सभी क्रियाएं उपयोग पूर्वक होती हैं। उनका अहिंसात्मक व्यवहार जैसे मित्र से होता है, वैसा ही अहिंसात्मक व्यवहार शत्रु के प्रति भी होता है। जो पूर्ण अहिंसक होता है, वह दूसरों से भी हिंसा नहीं कराते और जो हिंसा करनेवाले हैं, उनकी हिंसा-मयी दुष्प्रवृत्ति का समर्थन भी नहीं करते। अहिंसा की

आराधना के लिए साधु कषायों से अपने को अछूता रखते हैं। इन्द्रियों और मन की दासता से मुक्त रहते हैं, राग और द्वेष से ओझल रहते हैं। उनकी अहिंसा आकाश के समान व्यापक होती है, वे अपना जीवन-निर्वाह अचित वस्तुओं से करते हैं, मृत्यु निकट आने पर भी वे सचित्त वस्तु का सेवन नहीं करते।

२५. अशुभ मन का निरोध, अशुभ वाणी का निरोध और अशुभ काय का निरोध साधु का लक्ष्य है।

आगमों में योग, प्रणिधान, गुप्ति, समिति और समाधारणता का प्रयोग उपलब्ध है। इनका सूक्ष्म विश्लेषण, इस प्रकार है—

(क) मन, वचन और काय की सूक्ष्म स्थूल सभी क्रियाओ को योग कहते हैं।

(ख) अवधान, एकाग्रता या ध्यान को प्रणिधान कहते है।

(ख) अशुभ मन, वाणी और काय के निरोध को गुप्ति कहा जाता है। नियमों, उपनियमों से सभी अशुभ प्रवृत्तियों का स्वतः ही रुक जाना गुप्ति है।

(घ) मन-वाणी और काय की निर्दोष प्रवृत्ति को समिति कहते हैं।

(ङ) शुभ योग को आत्म-लक्ष्य की ओर लगाना समाधारणता है, अथवा अष्टांग योग में धारणा भी एक अंग है, उसी धारणा-प्रक्रिया को दूसरे शब्दों में समाधारणता भी कहते हैं।

२६. वेदनातिसहनता— सर्दी, गर्मी, भूख-प्यास, रोग-व्रण आदि प्रतिकूल परीषह आ जाने पर उन्हें समभाव से सहन करना, यह गुण भी साधुता की कसौटी है।

२७. मारणान्तिकातिसहनता—प्राण-घातक उपसर्गों के आने पर या मृत्यु के निकट आने पर भी सहनशीलता का साथ न छोड़ना।

इन सत्ताईस गुणों में साधु के शेष सभी गुणों का अंतर्भाव हो जाता है।

साधु और उसके पर्यायवाची शब्द

साधु, भिक्षु, संयमी, विरत, संयत, मुनि, श्रमण निर्ग्रन्थ, तपोधन, ऋषि. अनगार, संत ये सब साधु के पर्याय वाची शब्द हैं। ये नाम निरर्थक नहीं सार्थक हैं। इन शब्दों का अभिप्राय निम्न लिखित है—

१. साधु—जो धर्म की साधना करता है, अथवा जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र के द्वारा आत्मबल की या परमात्मतत्त्व की आराधना करता है, वह साधु है।

२. भिक्षु—भिक्षु दो तरह के होते हैं, एक वह है जो अभावग्रस्त होकर तृष्णा की पूर्ति के लिए दर-दर भटकता है, दूसरा वह है जो स्वाभिमान एवं साधना को सुरक्षित रखते हुए अहंकार की निवृत्ति के लिए और उदर पूर्ति के लिए निर्दोष भिक्षा ग्रहण करता है, संचय के लिए नहीं। भिक्षु के लक्षण बतलाते हुए शास्त्रकार लिखते हैं—

असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते,
जिइन्दियो सव्वओ विप्पमुक्के।
अणुकसाई लहुअप्पभक्खी,
चिच्चा गिहं एग चरे स भिक्खू॥

अर्थात् जो शिल्प कला आदि दस्तकारियों से जीवन-निर्वाह नहीं करता, जिसका कोई मठ, डेरा, घर नहीं है, जिस के मन में न कोई मित्र है और न शत्रु, जिसने मन, वाणी और इन्द्रियों को नियन्त्रित किया हुआ है, जो सब तरह के संसारिक बन्धनों से मुक्त है, जिसमें कषाय की मात्रा अतीव स्वल्प है, जो बहुत कम खाता है और वह भी निःसार, जो धन-धान्य से भरे हुए एवं परिजनों से युक्त घर को छोड़कर और राग-द्वेष से मुक्त होकर वन में सिंह की तरह अकेला निर्भय विचरने वाला है, वह साधु भिक्षु कहलाता है।[1]

३. सयमी—लज्जा और संयम दोनों में संकोच

उत्तरा. अ. १५ वां

होता है, फिर भी दोनों में अन्तर है। जब किसी व्यक्ति से संकोच किया जाता है तब उसे लज्जा कहते है और जब विवेक पूर्वक किसी पाप-कर्म को करने या निषिद्ध कार्यों में प्रवृत्ति होने से संकोच किया जाता है, तब उसे संयम कहा जाता है। संयम-परायण व्यक्ति को संयमी कहते हैं।

४. संयत—जो साधक मन. वचन, काय एवं इन्द्रियों को प्रबल निमित्त मिलने पर भी उन्हें बहिर्मुखी नहीं होने देता, वह संयत है।

५. विरत—सब तरह के पाप-कर्मो से जो विरक्त है, वह विरत माना जाता है।

६. मुनि—जिस मननशील साधक की कथनी और करनी में एकता है, वह मुनि है।

७. श्रमण—जो स्वावलम्बी है, जिसको अपने द्वारा किए हुए श्रम पर ही विश्वास है, जो समाज से लेता कम है और देता अधिक है, जो निरन्तर संयम और तप में श्रम करने वाला है,वह श्रमण है।

८. निर्ग्रन्थ—जो जर, जोरू और ज़मीन की ग्रन्थियों से मुक्त हो चुका है, अथवा जो मोह-ममत्व की गांठों को तोड़ चुका है, वह निर्ग्रन्थ है।

९. तपोधन—भली प्रकार से किया हुआ तप ही जिसका जीवन साध्य है, जिसका यह विश्वास है कि तप

करने पर ही संयम की साधना सम्यक् होती है, ऐसा तप-परायण व्यक्ति ही तपोधन कहलाता है।

१०, संत—सत् अर्थात् सज्जनता एवं शान्ति की परम कोटि को स्पर्श करनेवाला महासाधक ही संत कहलाता है

११. अनगार—अगार का अर्थ है वह परिमित स्थान जिसे घर कहा जाता है और जो माता-पिता, पुत्र-पुत्री भाई-बहिन, दास-दासी, पत्नी तथा पशु आदि प्राणियों से एवं अचेतन रूप नानाविध पदार्थों से युक्त होता है। इस प्रकार के मोहजनक पदार्थों से भरपूर घर का जिसने परित्याग कर दिया है, उसे अनगार कहते हैं।

ऋषि—विशिष्ट ज्ञान से सपन्न साधु को ऋषि कहते हैं।

उपर्युक्त सभी शब्द साधु शब्द के पर्यायवाची हैं और साधु के विभिन्न गुणों और कर्त्तव्यो पर प्रकाश डालने वाले हैं। आचार्य, गणधर, उपाध्याय, गणी, प्रवर्त्तक, बहुश्रुत, गणावच्छेदक ये सब उपाधियां विशिष्ट साधुओ की है, गृहस्थों की नही। संयप-तप की साधना करने वाली साध्वियों का समावेश भी साधुपद में हो जाता है। पचम पद को नमस्कार करने वाला साधक साधुता से सम्पन्न महान् आत्मा को नमस्कार करके अपने जीवन को मंगलमय बना लेता है।

साधु की इकत्तीस उपमाएं—

जैन आगमों में जिन उपमाओं से साधुता को उपमित

किया गया हैं, जिन श्रमण निर्ग्रन्थों में वे उपमाएं घटित होती हैं, वे सदा-सर्वदा वंदनीय, पूजनीय एवं नमस्करणीय हैं। वे उपमाएं संख्या में इकत्तीस हैं, जैसे कि—

सुविमल-वर-कंस-भायणं व मुक्कतोए—अतीव निर्मल उत्तम कांसे का वर्तन जैसे पानी के संपर्क से मुक्त रहता है, वैसे ही साधु भी आसक्तिपूर्ण सम्बन्धों से सर्वथा रहित होते हैं।

२. संखे-विव-निरंजणे, विगय-राग-दोस-मोहे—जैसे शंख पर अन्य किसी तरह का रंग नहीं चढता, वैसे ही साधु भी राग-द्वेष, मोह आदि कि कालिमा से रहित होते हैं।

३. कुम्मे इव इन्दियगुत्ते—जैसे कछुआ चार पैर और पांचवीं गर्दन—इन पांच अवयवों को संकोच कर कमठ में अपने को सुरक्षित कर लेता है, वैसे ही साधु भी संयम के कमठ में इन्द्रियों को नियन्त्रित कर लिया करता है।

४. जच्च कंचणगं व जायरूवे—जैसे शुद्ध सोना सौंदर्यपूर्ण होता है वैसे ही साधु भी आन्तरिक सभी विकारों से रहित प्रशस्त आत्मस्वरूप वाले हुआ करते हैं।

५. पोक्खर-पत्तं व निरुवलेवे—कमल के पत्ते की तरह संयमी साधु भी संसार-सागर के बीच आसक्ति के जल से कभी लिप्त नहीं होता है, वह निर्लेप रहता है।

६. चंदो इव सोमभावयाए—चन्द्रमा की तरह साधु सौम्य स्वभाववाले होते हैं।

७. सूरो व दित्ततेय—सूर्य के समान साधु भी तप तेज से देदीप्यमान हुआ करते हैं।

८. अचले जह मंदरे गिरिवरे—पर्वतों में श्रेष्ठ मेरु पर्वत की तरह साधु भी विचारों से उन्नत और अपनी संयम-मर्यादा में अचल एवं अटल होते हैं।

९. अक्खोभे सागरो व्व थिमिए—समुद्र के समान साधु भी क्षोभ-रहित होते है। हर्ष-शोक के कारणों से उनका चित्त कभी भी विकृत नहीं होता है।

१०, पुढवी व सव्व-फास-सहे—पृथ्वी की तरह साधु भी सब प्रकार के शुभ-अशुभ स्पर्शों को सहन सभ ा से करते हैं।

तवसाच्चिय भासरासि छन्नि व जायतेए—अन्तः-करण में तप के तेज को संजोए हुए साधु भस्मराशि से आच्छादित आग के समान होता है। यद्यपि साधु तपस्या से कृशकाय वाले होते हैं, तथापि उनका अन्तःकरण तेजस्वी होता है।

१२. जलिय हुयासणो विव तेयसा जलं से—जलती हुई आग के समान साधु भी तेज से जाज्वल्यमान हुआ करते हैं।

१३. गोसीस चंदणमिव सीयले सुगधे य—गोशीर्ष चंदन की तरह साधु शान्त, शीतल तथा शील सुगंध से पूर्ण होते हैं।

१४. हरयो विव समियभावो—हवा न चलने से जैसे जलाशय में पानी की सतह सम रहती है, वैसे ही साधु भी समभाव वाले होते हैं। मान और अपमान में भी उनके विचारों में चढ़ाव-उतार नहीं होता है।

१५. उग्घोसिय-सुनिम्मल व आयसमंडलतलं पागडभावेण सुद्धभावे—सुकोमल वस्त्र से साफ किये हुए दर्पण में जैसे प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई देता है, वैसे ही साधु के जीवन-दर्पण में उसके शुद्ध भाव स्पष्टतया प्रतिबिम्बित होते हैं। माया-रहित होने से उसके मानसिक भाव अति विशुद्ध होते हैं।

१६. कुंजरोव्व सोंडीरे—कर्म-शत्रुओं की सेना को पराजित करने के लिये साधु हाथी के समान बलशाली होते हैं।

१७. वसभोव्व जायत्थामे—अंगीकृत महाव्रतों का भार वहन करने में साधु समर्थ वृषभ के समान होते हैं।

१८ सीहे वा जहा मिगाहिवे होइ दुप्पधरिसे—जैसे मृगाधिपति सिंह अकेला ही अजेय होता है, वैसे ही साधु भी कर्मों पर विजय पाने में अकेला ही अजेय होता है।

१९. सारय-सलिलं व सुद्धहियए—शरद्‌ऋतु में जैसे जल शुद्ध एवं स्वच्छ होता है, वैसे ही साधु भी स्वच्छ एवं शुद्ध हृदय वाले होते हैं।

२०. भारंडे चेव अप्पमत्ते—भारंड पक्षी की तरह साधु भी सदैव अप्रमत्त रहते हैं।

२१. खग्गिविसाण व एगजाए—गेंडे के सींग के समान अकेले अर्थात् राग-द्वेष आदि साथियों से रहित रहते हैं।

२२. खाणु चेव उड्ढकाए—ठूंठ के समान साधु भी निश्चेष्ट कायोत्सर्ग करने वाले होते हैं।

२३. सुन्नागारे व्व अप्पडिकम्मे—शून्य गृह का जैसे कोई संमार्जन एवं सजावट नहीं करता, वह शोभा-रहित होता है, वैसे ही साधु भी विभूषा, शोभा आदि शरीर की सजावट से रहित होते हैं। वे शरीर के नहीं धर्म के दास होते हैं।

२४. सुन्नागारावणस्संतो निवायसरणप्पदीवज्झाणमिव निप्पकंपे—सूने घर या सूनी दुकान के अंदर वायु रहित स्थान में रखे हुए दीपक की तरह साधु भी नाना प्रकार के उपसर्गों के होने पर भी शुभ ध्यान करते हुए निष्प्रकंप रहते हैं।

२५. जहा खुरो चेव एगधारे—उस्तरे की धार जैसे एक समान होती है, वैसे ही साधु भी केवल उत्सर्ग मार्ग

का अवलम्बं न लेकर साधना करते हैं।

२५. जहा अही चेव एगदिट्ठी—जैसे सांप की दृष्टि एक लक्ष्य की ओर होती है, वैसे ही साधु भी एक मात्र मोक्ष-मार्ग पर एक दृष्टि से साधना करनेवाले होते हैं।

२७. आगासं चेव निरालंबे—जैसे आकाश किसी अन्य के सहारे पर नहीं ठहरा हुआ है, वैसे ही साधु भी आलंबन रहित अर्थात् स्वावलंवी होकर साधना में लीन रहते हैं।

१८. विहगे विव सव्वओ विप्पमुक्के—पक्षी की तरह साधु भी परिग्रह से सर्वथा मुक्त होते हैं।

२९. कय-पर-निलय जहा चेव उरगे—जैसे सर्प अपने लिये निवास-स्थान नहीं बनाता बल्कि दूसरे के बनाए हुए स्थान में निवास करता है, वैसे ही साधु भी दूसरे के बनाए हुए स्थान में निवास करते हैं।

३०. अनिलो व्व अपडिबद्धे—वायु की तरह साधु भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से प्रतिबद्ध नहीं होते।

३१. जीवो व्व अपडिहयगती—परलोक जाते समय जैसे जीव की गति बे-रोक-टोक होती है, वैसे ही साधु की गति भी बिना किसी प्रतिबन्ध के इस धरातल पर हुआ करती है। वे ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में विचरण करते रहते हैं। उनकी संयम-साधना में कोई भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्रतिबंधक नहीं होता। निर्बाधगति से वे

लक्ष्य की ओर बढ़ते ही जाते हैं। जब तक आत्म-गुण पूर्णतया विकसित नहीं हो जाते, तब तक मानव मानवता की परिधि में ही रहता है, जब वे गुण ससीम से असीम हो जाते है, तब वह साधक भगवत्-पदवी को प्राप्त कर लेता है।

यद्यपि साधु दीखने में सामान्य मानव की तरह ही होता है, परन्तु उसकी आत्मा से असीम गुणों की अजस्र धारा प्रवाहित होकर संयम के समुद्र में मिलकर शान्त एव गम्भीर हो जाती है, फिर उसमें नानाविध साधना के रत्नों का उद्गम हो जाता है, वह अपनी प्रत्येक भावना-के साथ दुर्गुणों की सीपियों और कौडियों को बाहर फेंकते हुए अपने को भगवत्-पद प्राप्ति के योग्य बना लेता है। साधु के इसी महान् श्रम को देखकर उसे 'श्रमण' कहा गया है और ऐसे श्रमणों को ही पंचम-पद द्वारा नमस्कार किया जाता है।

श्रमण की चौरासी उपमाएं

उरग - गिरि - जलण - सागर;
नहतल-तरुगण समो य जो होइ।
भमर - मिय - धरणी - जलरुह,
रवि-पवण समो य सो समणो ॥

(अनुयोगद्वार)

श्रमण के लिये बारह मौलिक उपमाएं हैं, उनमें से

प्रत्येक उपमा के सात-सात भेद हैं; बारह को सात से गुणा करने पर चौरासी भेद हो जाते हैं।

शास्त्रकारों ने सब से पहले साधु के लिये "उरग" की उपमा दी है। उरग का अर्थ है सर्प। सर्प सदैव छाती के बल से चलता है और उसमें सात विशेषताएं होती हैं। उसी प्रकार की सात विशेषताएं साधु में भी पाई जाती हैं। सर्प की विशेषता को उपमान मान कर और साधु की विशेषता को उपमेय मानकर दोनों में समान-धर्म के रूप में विद्यमान विशेषताओं का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

१. उरग

१. साधु सर्प के समान होता है, जैसे सर्प दूसरे के लिये बने हुए स्थान में रहता है वह अपने रहने के लिए स्वयं स्थान नहीं बनाता, वैसे ही साधु भी गृहस्थों द्वारा अपने लिये बनाए हुए स्थान में रहता है। अपने लिए गृहस्थों से घास-फूस की कुटिया तक भी नहीं बनवाता।

२. जैसे अगन्धन जाति का सर्प वमन किए विष को पुनः नहीं चूसता, वैसे ही साधु भी छोड़े हुए भोगों को पुनः भोगने की इच्छा नहीं करता।

३. जैसे सर्प एक दिशा की ओर सीधा चलता है वैसे ही साधु भी सरलता से मोक्ष-मार्ग में वृत्ति करता है।

४. जैसे सर्प जब बिल में प्रवेश करता है तब वह सीधा ही प्रवेश करता है, वैसे ही श्रमण भी आहार करता हुआ ग्रास

को मुंह में इधर-उधर न फिराता हुआ सीधा गले में उतारता है, उसके स्वाद का अनुभव नहीं करता।

५. जैसे सर्प केंचुली छोड़कर तुरन्त चल पड़ता है, फिर छोड़ी हुई कांचली की ओर नहीं देखता, वैसे ही साधु भी सुख-समृद्धि एवं सांसारिक सुखों को छोड़कर पुनः उन्हें पाने के लिए लेश मात्र की भी कामना नहीं करता।

६. जैसे सर्प कंकर आदि कटकाकीर्ण मार्गों से बचकर सावधानी से चलता है, वैसे ही साधु भी जीवहिंसा आदि पापों से बचकर यतना पूर्वक चलता है।

७. जैसे सभी लोग सर्प से डरते हैं वैसे ही तेजोलेश्या आदि लब्धियों से सम्पन्न साधु से मनुष्य, देव और अन्य प्राणी भी डरते हैं।

२. गिरि

साधु पर्वत के समान होता है—सदा स्थिर रहने वाले पर्वत भी अनेक प्रकार की विशेषताओं को लिए हुए होते हैं। वे विशेषताएं सात है, उन से मिलती-जुलती विशेषताएं साधु में भी होती हैं। जैसे कि—

१. जैसे पर्वत में नानाविध जड़ी-बूटियां एवं औषधियां होती हैं, वैसे ही साधु भी अक्षीण-माहनसी आदि अनेक लब्धियों के धारक हुआ करते हैं।

२. भयंकर तूफान आने पर भी जैसे पर्वत अविचल

रहता है वैसे ही श्रमण को भी किसी प्रकार के परीषह या उपसर्ग जिन-मार्ग से या संयम-मार्ग से विचलित नहीं कर सकते ।

३. जैसे पर्वत प्राणियों का आधारभूत है, वैसे ही साधु भी छः काय का आधारभूत है ।

४. जैसे पर्वत से अनेक नदियों का निकास होता है वैसे ही साधु से भी उपदेश के माध्यम से ज्ञान आदि स्रोत निकलते है, जिन से संसारी जीव लाभान्वित होते रहते हैं ।

५, जैसे सब पर्वतों में मन्दरगिरि ऊंचा है वैसे ही साधु भी अन्य सब भेषों में उत्तम एवं मान्य साधु-वेष से युक्त है ।

६. जैसे पर्वतों में सर्वोत्तम रत्न भी होते हैं, वैसे ही साधु भी रत्नत्रय से युक्त होते हैं ।

७. जैसे पर्वत उपत्यकाओं एवं मेखला से सुशोभित होता है, वैसे साधु भी सुशिष्यों एवं श्रावकों से शोभित होता है ।

३. ज्वलन

साधु ज्वलन अर्थात् अग्नि के समान होता है । अग्नि में सात विशेषताएं होती हैं, उन्हीं विशेषताओं से साधु की विशिष्टता बताई गई है ।

१. जैसे अग्नि ईंधन से कभी तृप्त नहीं होती, वैसे ही साधु भी ज्ञानादि गुण ग्रहण करते-करते कभी तृप्त नहीं होता ।

२. जैसे अग्नि अपने तेज से देदीप्यमान होती है, वैसे

ही साधु भी तपतेज एवं ऋद्धि आदि से देदीप्यमान होता है।

३. जैसे अग्नि कूड़े-कचरे को भस्म कर देती है, वैसे ही साधु भी कर्मरूप कचरे को तप के द्वारा जला देता है।

४. जैसे अग्नि अंधकार का नाश करती है, वैसे ही साधु भी अज्ञान-अंधकार का नाश करके धर्म का उद्योत करता है।

५. जैसे अग्नि सोना-चांदी आदि धातुओं को शोध कर शुद्ध बना देती है, वैसे ही साधु भी भव्य जीवों को शिक्षाओं द्वारा मिथ्यात्व आदि दोषो से रहित बना देता है।

६. जैसे अग्नि धातु और मैल को अलग-अलग कर देती है, वैसे ही साधु भी आत्मा और कर्म को अलग-अलग कर देता है।

७. अग्नि जैसे मिट्टी के कच्चे बर्तनों को पकाकर पक्का कर देती है, वैसे ही साधु भी शिष्यों एव श्रावकों को उपदेश देकर धर्म में दृढ़ बना देता है।

४. सागर

साधु सागर की तरह सदा गंभीर होता है। समुद्र में जो विशेषताएं हुआ करती हैं, उनसे मिलती-जुलती विशेषताएं साधु में भी होती हैं, समुद्र और साधु दोनों में समान धर्म होने से साधु को शास्त्रकारों ने सात उपमाओं से उपमित किया है।

१. जैसे सागर रत्नाकर कहलाता है और वह मणि

मोती-मूंगा आदि रत्नों की खान है वैसे ही साधु भी गुण-रूप-रत्नों का भण्डार होता है।

२. जैसे समुद्र कभी भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, वैसे ही श्रमण भी वीतराग भगवान् की आज्ञा एवं मर्यादा को भंग नहीं करता।

३. जैसे सागर में सभी नदियों का संगम होता है, वैसे ही साधु में भी चार प्रकार की बुद्धियों का संगम होता है।

४. जैसे सागर मगरमच्छ आदि जल-जंतुओं से क्षुब्ध नहीं होता, वैसे ही साधु भी ममता-मोह आदि कषायों से क्षुब्ध नहीं होता।

५. जैसे समुद्र कभी तट-सीमा का उल्लंघन नहीं करता, वैसे ही साधु भी गुणों को पाकर या दूसरों के अवगुणों को देखकर कभी भी अपने साधुत्व का उल्लंघन नहीं करता।

६. जैसे स्वयंभू-रमण समुद्र का जल शीत एवं स्वच्छ होता है, वैसे ही साधु भी शान्त एवं निर्मल हृदय वाले होते हैं।

७. जैसे समुद्र अथाह जल से पूर्ण एवं गंभीर होता है वैसे ही साधु भी गुण-समुद्र होने से गंभीर होते हैं।

५. आकाश

साधु आकाश के समान होता है—आकाश में जो सात विशेषताएं हैं, उनसे साधु को उपमित किया गया है।

१. आकाश की तरह साधु का मन निर्मल होता है।

२. जैसे आकाश स्वयं किसी पर आधारित नहीं, वैसे ही साधु भी किसी जड़-चेतन के मोह पर आधारित नही रहता, उसे किन्ही संसारी रिश्तेदारों की आवश्यकता नहीं रहती।

३. जैसे आकाश दूसरे पदार्थो का आधार है, वैसे ही साधु भी ज्ञान आदि गुणों का आधार होता है।

४. जैसे आकाश पर गर्मी-सर्दी का प्रभाव नहीं पड़ता, वैसे ही साधु पर भी सर्दी-गर्मी एव निन्दा-अपमान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

५. जैसे आकाश वर्षा आदि अनुकूल कारणों से प्रफुल्ल नही होता, वैसे ही साधु भी वन्दना, सत्कार-सन्मान आदि पाकर प्रसन्न नहीं होते।

६. जैसे आकाश का किसी भी अस्त्र-शस्त्र से छेदन-भेदन नही होता, वैसे ही साधु के संयम आदि गुणो का भी कोई नाश नहीं कर सकता।

७. जैसे आकाश अपने आप में महान एवं अनन्त है, वैसे ही साधु भी लोक में महान एवं गुणों में अनन्त है।

६. तरुगण

साधु वृक्ष के समान होता है—वृक्षों में भी सात विशेषताएं होती हैं, उन्हीं से साधु को उपमित किया गया है।

१. जैसे वृक्ष सर्दी-गर्मी, वर्षा-आंधी सब कुछ सह लेता

है, किन्तु अपनी छाया से श्रान्त पथिकों को सुख-शान्ति पहुंचाता है, वैसे ही साधु भी अनेक प्रकार के कष्ट सहकर भी अपने आश्रय में आनेवाले को सुख-शान्ति देता है।

२. जैसे वृक्ष सेवा करने वाले को फल देता है, वैसे ही साधु भी स्वर्ग या अपवर्ग तथा अभ्युदय एवं निःश्रेयस-सिद्धि रूप फल देनेवाला होता है।

३. जैसे वृक्ष कुल्हाड़ी से काटनेवाले पर भी क्रोध नहीं करता, वैसे ही साधु भी निन्दा करनेवाले या अपमान करने वाले पर क्रोध नहीं करता।

४. जैसे वृक्ष चंदन-केसर आदि से पूजा करने पर प्रसन्नता का अनुभव नहीं करता, वैसे ही साधु भी अधिक मान-सन्मान करने पर भी प्रसन्नता का अनुभव नहीं करता।

५. वृक्ष जैसे फल-फूल, पत्ते आदि देने पर भी बदले में दूसरों से कुछ नहीं चाहता, वैसे ही साधु भी उपदेश देने पर बदले में श्रोताओं से कुछ नहीं चाहता।

६. जैसे वृक्ष तूफान आदि के चलने पर और अनेक कष्ट होने पर भी अपने स्थान को नहीं छोड़ता, वैसे ही साधु भी प्राणान्त कष्ट आने पर भी संयम-मर्यादा को नहीं छोड़ता, वह सभी परिस्थितियों में अडिग बना रहता है।

७. जैसे वृक्ष बिना किसी भेद-भाव के दूसरों को सहारा देता है, वैसे ही साधु भी एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक

सब जीवों को बिना किसी भेद-भाव के अभयदान देता है और शरणागत की रक्षा करता है ।

७. भ्रमर

साधु भ्रमर के समान होता है, क्योंकि भ्रमर में जो सात विशेषताएं हैं, वे साधु में भी होती हैं । दोनों का समान धर्म एक समान होने से साधु के लिए भ्रमर की उपमा दी गई है ।

१. जैसे भ्रमर फूलों का रस थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करता है, किन्तु फूलों को वह किसी प्रकार की पीडा नहीं पहुंचाता, वैसे ही साधु भी दाता को बिना कष्ट दिए गृहस्थों के घरों से थोड़ा थोड़ा-आहार ग्रहण करता है ।

२. जैसे भ्रमर फूलों का मकरन्द ग्रहण करता है, किन्तु वह दूसरों को नहीं रोकता, वैसे ही साधु भी गृहस्थों के घर से आहारादि लेता है, किन्तु किसी को अन्तराय नहीं डालता ।

३. जैसे भ्रमर अनेक फूलों के रस से अपना जीवन निर्वाह करता है, वैसे ही साधु भी एक ही घर से नहीं अनेक घरों से निर्दोष आहार ग्रहण करके जीवन-निर्वाह करता है ।

४, जैसे भ्रमर अधिक मकरंद मिलने पर भी उसका संग्रह करके नहीं रखता, वैसे ही साधु भी आहारादि अधिक मिलने का अवसर प्राप्त होने पर भी उसका संग्रह करके नहीं रखता । आवश्यकता के अनुसार ही ग्रहण करता है,

अधिक नहीं ।

५. जैसे भ्रमर बिना निमंत्रण दिए अकस्मात् मकरन्द ग्रहण करने के लिए फूलों के पास पहुंच जाता है, वैसे ही साधु भी बिना निमंत्रण दिए ही भिक्षा के लिए गृहस्थों के घर पहुंच जाता है ।

६. जैसे भ्रमर केतकी के फूलों से अधिक प्रीति रखता है, वैसे ही साधु भी चारित्र-धर्म पर अधिक प्रीति रखता है ।

७. जैसे भ्रमर के निमित्त बाग-बगीचे नहीं लगाये जाते, वैसे ही साधु के निमित्त जो आहार आदि नहीं बनाया जाता, साधु उसी को अपने उपयोग में लाता है ।

८. मृग

साधु मृग के समान होता है, क्योंकि अन्य प्राणियों की अपेक्षा मृग अर्थात् हिरण में कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जिनकी तुलना साधु के साथ की जा सकती है, वे सात हैं, जैसे कि :—

१. जैसे मृग सिंह से भयभीत होता है, वैसे ही साधु भी हिंसा आदि पाप कर्म करने से डरता है ।

२. जैसे मृग जिस घास पर से निकलता है, उस घास को मृग नहीं खाता, वैसे ही साधु भी सदोष आहार कभी ग्रहण नहीं करता ।

३. जिस तरह मृग एक स्थान में नहीं रहता, उसी तरह साधु भी कल्प की मर्यादा रखते हुए एक स्थान पर नहीं टिकता, वह क्षेत्र-मोह की दलदल में नही फसता।

४. जैसे मृग रुग्ण हो जाने पर भी औषधि की अपेक्षा नहीं रखता, किसी से सेवा की कामना नहीं करता, वैसे ही साधु भी उत्सर्ग-मार्ग का अवलंबन लेकर रुग्ण होने पर भी चिकित्सा नहीं कराते, न सेवा लेते हैं और न अपनी सेवा के लिए किसी की अपेक्षा रखते हैं।

५. जैसे मृग रोग आदि के उत्पन्न होने पर एक स्थान में ठहर जाता है, वैसे ही साधु भी रोग या वृद्धावस्था के कारण स्थिरवास करता है।

६. जैसे मृग रुग्ण हो जाने पर अपने साथियों की सहायता नहीं चाहता, वैसे ही साधु भी स्वजनों की या गृहस्थों की शरण की अपेक्षा नही रखता।

७. जैसे मृग नीरोग होने पर उस स्थान में बैठा नही रह जाता है, बल्कि उसे छोड़ देता है, वैसे ही साधु भी रोग आदि से मुक्त होते ही ग्रामानुग्राम विहार करने लगता है।

६. धरणी

साधु पृथ्वी के समान होता है। धरती में जो विशेषताएं हैं, वे विशेषताएं साधु में भी पाई जाती हैं, दोनों की समानता बतलाने के लिए शास्त्रकारों ने धरती की उपमा से

साधु को उपमित किया है ।

१. जैसे पृथ्वी छेदन-भेदन आदि कष्टों को सहन करती है, वैसे ही साधु भी परीषह-उपसर्गों को समभाव से सहन करता है ।

२. जैसे पृथ्वी धन-धान्य से परिपूर्ण होती है, वैसे ही साधु भी शम, दम, संवेग, निर्वेद आदि अनेक सद्गुणों से परिपूर्ण होता है ।

३. जैसे पृथ्वी समस्त बीजों की उत्पत्ति का कारण है, वैसे ही साधु भी समस्त सुख देने वाले बोधिबीज—धर्मबीज की उत्पत्ति का कारण है ।

४. जिस तरह पृथ्वी अपने शरीर की सार-संभाल नहीं करती, उसी तरह साधु भी ममत्व-भाव से कभी भी अपने शरीर की सार-संभाल नहीं करता ।

५. जैसे पृथ्वी का यदि कोई छेदन-भेदन करता है तो वह किसी के पास न शिकायत करती है और न फर्याद, वैसे ही साधु भी किसी के द्वारा कष्ट, अपमान आदि करने पर गृहस्थों या स्वजनों के पास जा कर न शिकायत करता है और न फर्याद ही ।

६. जैसे पृथ्वी अन्य संयोगों से उत्पन्न होने वाले कीचड़ को नष्ट करती है, वैसे ही साधु भी राग-द्वेष, क्लेश आदि कीचड़ का नाश कर देता है ।

७. जैसे पृथ्वी सब प्राणी, भूत, जीव, सत्व का आधार है, वैसे ही साधु भी सब जीवों का तथा चतुर्विध श्रीसंघ का आधार है।

१०—कमल

साधु कमल के समान होता है—कमल का स्वभाव भी अनोखा एवं अनुकरणीय है। वह अपनी अनेक विशेषताओं से सम्पन्न है। ठीक उन विशेषताओं से मिलती-जुलती विशेषताएं साधु में भी पाई जाती हैं, अत: शास्त्रकारों ने कमल की उपमा से साधु को उपमित किया है।

१. जैसे कमल कीचड़ से उत्पन्न होता है, पानी में ही बढ़ता है फिर भी वह पानी से, कीचड़ मे लिप्त नहीं होता, वैसे ही साधु भी गृहस्थ के घर जन्म लेता है, वहीं पर उसका भरण-पोषण हुआ फिर भी वह भोग-विलासिता से लिप्त नहीं होता।

२. जैसे कमल अपनी सुगन्ध से पथिकों को सुख उपजाता है वैसे ही साधु भी उपदेश देकर भव्यजनों को सुख उपजाता है।

३. जैसे कमल के सौन्दर्य एवं सौरभ से मुग्ध होकर उसके चारों ओर भ्रमर गुंजार करते हैं, वैसे ही साधु के सत्य, शील, मधुर, शान्ति, क्षमा आदि गुणों से आकृष्ट हुए सज्जन पुरुषों के द्वारा उसकी मुक्तकंठ से स्तुति की जाती है।

४. जैसे कमल सूर्य के उदय होने पर खिल उठता है वैसे ही साधु का हृदय-कमल भी गुणी जनों को देखकर खिल उठता है।

५. जैसे कमल सदा प्रफुल्ल रहता है, वैसे ही साधु भी सदैव प्रसन्नमुद्रा में रहता है।

६. जैसे सूर्यमुखी कमल सदैव सूर्य के अभिमुख रहता है, वैसे ही साधु भी सदा तीर्थङ्करों की आज्ञानुसार ही व्यवहार करता है।

७. पुण्डरीक कमल सदैव उज्ज्वल होता है, वैसे ही साधु का हृदय भी धर्मध्यान और शुक्लध्यान से सदा उज्ज्वल रहता है।

११. रवि

साधु सूर्य के समान होता है। सूर्य में तेजस्विता आदि अनेक विशेषताएं होती हैं, उन्हीं से मिलती-जुलती विशेषताएं साधु में भी पाई जाती हैं। इसी कारण उसे रवि की उपमा से उपमित किया गया है।

१. सूर्य अपने तेज से अंधकार का नाश करता है, वैसे ही साधु भी वाणी द्वारा भव्य-जीवों के समक्ष नव तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप प्रकाशित करके उनके अज्ञानान्धकार को दूर करता है।

२. जैसे सूर्य के उदय होने पर कमल-वन प्रफुल्लित हो

जाता है, वैसे ही साधु के आगमन से भव्य जीवों का हृदय भी खिल उठता है।

३. जैसे सूर्य रात्रि में इकट्ठे हुए अन्धकार को क्षणमात्र में नष्ट कर देता है, वैसे भी साधु भी अनादिकालीन अज्ञान-अन्धकार को ज्ञान-रश्मियों से नष्ट कर देता है।

४. जैसे सूर्य अपनी तेजस्विता से देदीप्यमान होता है, वैसे ही साधु भी तपतेज से देदीप्यमान होता है।

५. जैसे सूर्य के अत्युज्ज्वल प्रकाश में ग्रह-नक्षत्र-तारों का प्रकाश बिल्कुल मन्द पड़ जाता है, वैसे ही साधु के आगमन से मिथ्यादृष्टियों तथा पाखण्डियों का प्रकाश और प्रचार मन्दा पड़ जाता है।

६. जैसे सूर्य के प्रकाश से अग्नि का प्रकाश फीका पड़ जाता है, वैसे ही साधु के ज्ञान-प्रकाश के सामने क्रोधियो की क्रोधाग्नि एवं हिंसकों की हिंसा रूप अग्नि भी मन्द पड़ जाती है।

७, जैसे सूर्य हज़ार किरणों से सुशोभित होता है, वैसे ही साधु भी हजारों गुणों से तथा चतुर्विध श्रीसघ से सुशोभित होता है।

१२. पवन

साधु पवन के समान होता है। यद्यपि पवन चक्षु-ग्राह्य नहीं होता, तथापि उसकी विशेषताओं से साधु को उपमित किया गया है।

१. जैसे पवन की गति सर्वत्र है, वैसे ही साधु भी सर्वत्र विचरता है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी दिशाओं में उसकी अव्याहत गति होती है।

२. जैसे पवन की गति अप्रतिहत होती है, वैसे ही साधु भी गृहस्थों के बन्धनों से मुक्त होकर विचरता है।

३. जैसे पवन हल्का होता है, वैसे ही साधु भी द्रव्य और भाव से हल्का होता है।

४. जैसे पवन चलते-चलते कहीं का कहीं पहुंच जाता है, वैसे ही साधु भी आर्य क्षेत्र में विचरता-विचरता कहीं का कहीं पहुंच जाता है।

५. जैसे पवन सुगन्ध-दुर्गन्ध का प्रसार करता है, वैसे ही साधु भी पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म का स्वरूप प्रकट करता है।

६. जैसे पवन रोकने पर भी रुकता नहीं, वैसे ही साधु भी मर्यादा के उपरान्त किसी के रोकने से रुकता नहीं।

७. जैसे पवन गर्मी को दूर करता है, वैसे ही साधु भी ज्ञान-वैराग्य से जनता की आधि, व्याधि एवं उपाधि रूप गर्मी को दूर करके शान्ति का प्रसार करता है।

नमस्कार-माहात्म्य

जिन भद्र गणी क्षमा-श्रमण के शब्दों में

ते अरिहंता सिद्धाऽऽयरिओ-वज्झाय-साहवो नेया।
जे गुणमय-भावाओ गुणा व पुज्जा गुणत्थीणं ॥

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच पद ज्ञान आदि गुणों से सम्पन्न हैं, अतः गुणार्थी भव्यात्माओं के लिये ये पद मूर्तिमान गुणों की तरह पूज्य हैं।

मोक्खत्थिणो व जं मोक्ख हेयवो दंसणादि तियग व।
तो तेऽभिवंदणिज्जा जह व मइहेयवो कह ते॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की तरह ये पांचों पद मोक्षार्थियों के लिये मोक्ष के साधन हैं, अतएव ये उनके वन्दनीय हैं। ये पांच पद इस प्रकार मोक्ष के साधक हैं।

मग्गो अविप्पणासो आयारे विणयया सहायत्तं।
पंचविह नमोक्कारं करेमि एएहिं हेऊहिं॥

मुक्ति का मार्ग अरिहन्त भगवान का दिखाया हुआ मार्ग है। इस मार्ग पर चलते हुए साधक शाश्वत गुणों को जानकर संसार के विनश्वर स्वभाव से विमुख होकर सिद्धत्व को लक्ष्य में रखकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए यत्नशील होते हैं।

आचार्य स्वयं आचारवान् एवं आचार के उपदेशक होते हैं। भव्य जीव उनके द्वारा आचार प्राप्त कर ज्ञानादि के आचरण का ज्ञान प्राप्त कर उसका आचरण करते हैं। उपाध्याय की शरण में जाकर मुमुक्षु जीव कर्म-नाशक ज्ञानादि विनय की आराधना करते हैं। साधु वृन्द मोक्षार्थियों के मोक्ष के योग्य अनुष्ठानों की साधना में सहायक होते हैं। इस प्रकार पांचों पद मोक्षप्राप्ति में हेतु एवं सहायक

हैं । अतः मैं पांच पदों को नमस्कार करता हूं ।

इह लोए अत्थकामा आरोग्गं अभिरई य निप्फत्ती ।
सिद्धी य सग्ग - सुकुल पज्जाई य परलोए ।

—विशेषावश्यक भाष्य गा. २९४२-२९५५ तथा ३२२३

नमस्कार महामन्त्र के प्रभाव से इस लोक में अर्थ, काम, आरोग्य, अभिरति और पुण्यानुबन्धी पुण्य की प्राप्ति होती है तथा परलोक में सिद्धि, स्वर्ग एवं उत्तम कुल की प्राप्ति होती है ।

आचार्य हरिभद्र के शब्दों में नमस्कार-माहात्म्य

अरहंत नमुक्कारो जीवं मोएइ भव सहस्साओ ।
भावेण-कीरमाणो होइ गुण - बोहिलाभाए ॥

भाव-पूर्वक किया हुआ अरहंत भगवन्तों को नमस्कार चाहे आत्मा को अनन्त भवों से मुक्त कर के मुक्ति का लाभ न दे सके तो भी जन्मान्तर में यह नमस्कार-मंत्र सम्यग्दर्शन का कारण अवश्य बन जाता है ।

अरहंत नमुक्कारो धन्नाण भवक्खयं कुणंताणं ।
हिअयं अणुम्मुअतो विसुत्तिया वारओ होइ ॥

ज्ञानादि रत्नत्रय रूप धन वाले तथा पुनर्भव का क्षय करने वाले उन महान् आत्माओं के हृदय में रहा हुआ यह अरिहंत नमस्कार दुर्ध्यान से हटाकर धर्मध्यान में लगाने वाला है ।

अरिहंत नमुक्कारो एवं खलु वण्णिओ महत्थुत्ति ।
जो मरणंमि उवलग्गे अभिक्खणं कीरए बहुसो ।।

यह अरिहंत भगवान को किया हुआ नमस्कार महान् अर्थ वाला है, अल्प अक्षर वाले इस नमस्कार-पद में बारह अंगों का अर्थ समाविष्ट है, यही कारण है कि मृत्यु के निकट होने पर तथा बड़ी से बड़ी आपत्ति आने पर भी इसी का स्मरण किया जाता है, अतः यह सब भयों से बचाने वाला है ।

अरिहंत नमुक्कारो सव्व पाव-प्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मगल ।।
(हरिभद्रीयावश्यकभाष्य गा. ९२३-९२६)

अरिहंत-नमस्कार सभी अशुभ कर्मों का नाश करने-वाला है, विश्व भर के सभी द्रव्य-मंगलों और भाव-मंगलों में यह प्रमुख मंगल है ।

आचार्य मलयगिरि के शब्दों में नमस्कार माहात्म्य

एसो पंच नमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं ।।

पांच पदों का यह नमस्कार मंत्र सभी पापों का नाश करनेवाला है और संसार के समी मंगलों में यह मुख्य मंगल है।

नमस्कार मन्त्र के सन्दर्भ में प्रासंगिक चर्चा

प्रश्न हो सकता है "नमो सिद्धाणं" और "नमो लोए सव्व साहूणं" ये दो ही पद पर्याप्त है, क्योंकि अरिहंत आचार्य और उपाध्याय इन तीन पदों का समावेश साधु पद में ही हो जाता है, फिर दो पद न कह कर पांच पद क्यों कहे गए हैं।

उत्तर में कहा जा सकता है कि अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन पद इनके पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट करने के लिये ही तो रखे गये हैं। सभी साधु अरिहंत, आचार्य और उपाध्याय के गुणों से सम्पन्न नही हो सकते, साधुओं में से कुछ अरिहन्त हो जाते हैं, कुछ विशिष्ट देशना देने से आचार्य हो जाते है, कुछ सूत्र पढ़ाने वाले उपाध्याय हो जाते हैं, कुछ असाधारण गुणों की विशेषता से साधु माने जाते हैं जो विशेषता अरिहंतों में होती है, वह अन्य किसी में नहीं, जो विशेषताएं आचार्यो में होती है, वह अन्य किसी में नहीं और जो विशेषताएं उपाध्यायों में हैं वे अन्य किसी में नहीं। सामान्य साधु को नमस्कार करने से विशिष्ट गुण-सम्पन्न अरिहंत आदि का न तो स्मरण होता है और न वैसी भावना ही आती है। विशेषण अन्य द्रव्यों का तथा अन्य गुणों का व्यावर्त्तक होता है, अतः दो की अपेक्षा पांच पदों को नमस्कार करना अधिक उपयुक्त है।

दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि अरिहंत का पद बड़ा है या सिद्धों का ? यदि हम ऐसा कहें कि सिद्ध सर्वथा

कृतकृत्य हो गए हैं, अतएव अरिहन्त भी प्रव्रज्या ग्रहण करते समय सर्व प्रथम सिद्धों को नमस्कार करते हैं। इस अपेक्षा से सिद्धों का पद बड़ा होना ही चाहिये और वह पद पहले आना चाहिये था। इस के उत्तर में भी यही कहा जा सकता है कि सिद्धों की अपेक्षा अरिहन्त पद बडा है, यह पद महान् उपकारी है. क्योंकि तीर्थ के प्रवर्त्तक अरिहन्त ही हुआ करते हैं। सिद्ध पद का निर्देश भी अरिहन्त ही करते हैं, भव्यों को सिद्ध पद का ज्ञान अरिहन्तों के उपदेश से ही होता है, अरिहन्त पद पाए बिना कोई भी जीव सिद्धत्व को प्राप्त नहीं कर सकता। इन्हीं कारणों से अरिहन्त पद को बड़ा माना गया है। अरिहन्त भगवान जब प्रव्रज्या ग्रहण करते समय सिद्धो को नमस्कार करते हैं तब वे छद्मस्थ होते हैं।

यदि कोई यह शंका करे कि अरिहन्तों के उपदेश से सिद्ध भगवन्तों का ज्ञान होता है, अत: अरिहन्त ही तो बड़े हैं ? यह कथन भी कथंचित् सत्य हो सकता है, सर्वथा नहीं, क्योंकि जब इस पृथ्वी पर अरिहन्त नहीं होते, उस अवस्था में आचार्य आदि ही सिद्धों का ज्ञान कराते हैं, तब उस अवस्था मे वे भी प्रधान हो जाएंगे। वस्तुत: सिद्धत्व का पूर्ण परिज्ञान अरिहंतों को ही होता है, अत: वे ही सिद्ध भगवन्तों का ज्ञान करवा सकते हैं। इस दृष्टि से वे ही प्रधान माने जा सकते हैं।

आचार्य आदि तो स्वतन्त्र देशना दे ही नहीं सकते,

उनके उपदेश तो अरिहन्त के उपदेश के अनुसारी होते हैं, अतः सर्वप्रथम अरिहन्तों को नमस्कार किया गया है जो सर्वथा युक्ति-युक्त ही है।

शंका हो सकती है कि उपाध्याय और साधु को नमस्कार द्रव्य और भाव से होना सम्भव है, क्योंकि वे प्रत्यक्ष हैं, किन्तु अरिहन्त और सिद्ध ये तो हमारे लिए बिल्कुल परोक्ष हैं, उन तक नमस्कार का पहुंचना कैसे सम्भव हो सकता है ? परन्तु नमस्कार वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा वन्दनीय के प्रति बहुमान, विनय सिद्ध होती है और अपनी लघुता व्यक्त होती है। अरिहन्त और सिद्ध दोनों की गणना परमात्मा की कोटि मे होती है, वे द्रव्य एवं भाव-वन्दना को अपने ज्ञान में देख ही लेते हैं। हमारे लिए वे परोक्ष हैं, किन्तु उनके लिए हमारी कोई क्रिया परोक्ष नही है। उन के केवल ज्ञान में परोक्षता और अपरोक्षता कहीं है ही नही, निश्चय नय की दृष्टि से नमस्कार के द्वारा हृदय-शुद्धि विनय-भक्ति एवं प्रीति आदि से अशुभ कर्मों की निर्जरा और पुण्यानुबन्धी पुण्य का बन्ध होना तो निश्चित ही है, क्योंकि जिस शुद्ध लक्ष्य को लेकर नमस्कार किया जाता है, उसका फल नमस्कार करने वाले को मिल जाता है।

दूसरी शंका यह भी हो सकती है कि नमस्कार उत्पन्न होने से अशाश्वत है या शाश्वत ? यदि वह उत्पन्न होता है तो उसके उत्पन्न करने वाले निमित्त क्या हैं ? इसका

समाधान सात नयों की दृष्टि से हो सकता है। एक दृष्टि-कोण से उसके अन्तरङ्ग स्वरूप को निर्धारित नही किया जा सकता, क्योंकि कुछ विद्वान् उसे उत्पन्न हुआ मानते है और कुछ अनुत्पन्न (शाश्वत) मानते है। नैगम नय की दृष्टि से सभी पदार्थ एवं गुण सदा से हैं, न कोई वस्तु नई उत्पन्न होती है और न नष्ट ही होती है, अत: इस नय की अपेक्षा नमस्कार अनुत्पन्न है। द्रव्य रूप से नमस्कार का अस्तित्व मिथ्यादृष्टि अवस्था में भी होता है, यदि ऐसा न माना जाए तो फिर नमस्कार उत्पन्न ही न होगा, क्योंकि सर्वथा असत् वस्तु की उत्पत्ति नही होती। इसी मान्यतावाले अवि-शुद्ध नैगम नय और संग्रह नय, ये दोनो है। शेष विशेषवादी नयों का कहना है कि उत्पाद और विनाश रहित वस्तु शश-विषाण एवं वन्ध्यापुत्र की तरह असत् है, अत: इनके अभि-मत में नमस्कार उत्पन्न होनेवाला है और जो उत्पन्न होता है वह विनाशशील भी होता है।

जो वस्तु उत्पन्न होती है उसके उत्पन्न करने के निमित्त भी होते है, अत: नमस्कार के तीन निमित्त हैं—शरीर, याचना और लब्धि। अविशुद्ध नैगम, सग्रह और व्यवहार इन तीन नयों की अपेक्षा नमस्कार के निमित्त उक्त तीनों ही है। नमस्कार मन्त्र के उत्पन्न होने में सब से पहले क्षयोप-शम रूप लब्धि का होना अनिवार्य है, क्योंकि सबसे पहले किसी से नमस्कार मन्त्र सीखना पड़ता है, फिर उसकी वाचना की

जाती है, फिर उसके बाद द्रव्य नमस्कार शरीर से उत्पन्न होता है, अत. नमस्कार उत्पन्न करने में तीनों निमित्त कारण हैं।

ऋजु-सूत्र-नय, वाचना और लब्धि ये दो ही निमित्त मानता है, क्योंकि शरीर के होते हुए भी वाचना और लब्धि के बिना नमस्कार रूप क्रिया की उत्पत्ति नही हो सकती।

शब्द, समभिरूढ और सभूत इन तीन नयो का कहना है कि केवल लब्धि ही पर्याप्त है, आवरण के क्षयोपशम रूप लब्धि को ही नमस्कार का निमित्त कारण मान सकते हैं, क्योंकि अभव्य जीवों मे नमस्कार की लब्धि बिल्कुल नही होती, अत: बाचना मिल जाने पर भी नमस्कार रूप कार्य की उत्पत्ति कभी होती ही नही है। भाव-नमस्कार के बिना नमस्कार का कोई अर्थ ही नही है। तेल बत्ती के होते हुए भी दीपक ज्योति के बिना प्रकाशमान नहीं होता। जिस में नमस्कार की योग्यता है, वह सीखता भी है और करता भी है, अत: नमस्कार की योग्यता ही नमस्कार में निमित्त कारण है।

अब यह भी शंका हो सकती है कि नमस्कार करने वाला नमस्कार का स्वामी है या श्रद्धेयरूप नमस्करणीय है ? इस शंका का समाधान भी नयों के द्वारा ही किया जा सकता है। नैगम और व्यवहार ये दो नय मानते हैं कि नमस्कार का स्वामी परम श्रद्धेय है, नमस्कार करने वाला नही। जैसे साधु को भिक्षा में दे देने के अनन्तर वस्तु साधु की हो जाती है दाता की नहीं रहती, वैसे ही श्रद्धेय को किया

गया नमस्कार श्रद्धेय का है नमस्कर्ता का नहीं, क्योंकि श्रद्धेय नमस्कार का हेतु है, यदि श्रद्धेय सामने न हो तो नमस्कार के भाव भी पैदा नही होते, श्रद्धेय को देखकर ही नमस्कार करने वालों में नमस्कार करने की भावना पैदा होती है। नमस्कर्ता श्रद्धेय का दासत्व स्वीकार करता है, इस दृष्टि से किये गये नमस्कार का स्वामी श्रद्धेय है।

संग्रहनय केवल सामान्यमात्र को विषय करता है, केवल नमस्कार को ही जानता एवं देखता है। नमस्कार कर्त्ता का नमस्कार है या नमस्करणीय का नमस्कार है, इस तरह के तर्क-वितर्क से रहित केवल सत्ता रूप नमस्कार को ही वह स्वीकार करता है, अतः वह स्वामित्व पर विचार करता ही नही है।

ऋजुसूत्र नय का इस सन्दर्भ में कहना है कि जब जीव का उपयोग नमस्कार में संलग्न होता है, "अरिहन्तों को नमस्कार है" इस तरह शब्द रूप अथवा मस्तक झुकाने आदि रूप में क्रियारूप है। शब्द बोलना, मस्तक झुकाना या ज्ञान, शब्द और क्रिया, नमस्कार करने वाले व्यक्ति के गुण हैं, अतः नमस्कार भी उसी का है। नमस्कार करना कर्ता के आधीन है। इस दृष्टि से भी वह उसी का है। नमस्कार स्वर्ग आदि फल देने वाला है, वह फल भी नमस्कर्त्ता को प्राप्त होता है। नमस्कार करने से कर्मों का क्षयोपशम भी उसी का होता है। इस प्रकार अनेक दृष्टियों से सिद्ध होता है कि

नमस्कार का स्वामी नमस्कर्त्ता ही है ।

शब्द, समभिरूढ़ और एवं भूत इन तीन नयों के अभिमत में शब्द बोलना, मस्तक आदि झुकाना, यह नमस्कार नही है, जब उपयोग अर्थात् ज्ञान नमस्कार मे लीन हो जाता है, तब वह उपयोग या ज्ञान ही नमस्कार है । नमस्कार के भाव ही नमस्कार हैं । इस अपेक्षा से नमस्कार का स्वामी नमस्कर्त्ता ही है । इस प्रकार नयों की दृष्टि से वस्तु स्वरूप को समझने के लिये उपयोग लगाना चाहिए ।

नयों की दृष्टि से ऐसा भी ध्वनित होता है कि नमस्कार दो प्रकार का होता है द्वैत और अद्वैत । "मैं उपासना करने वाला हूं और अरिहंत सिद्ध आदि मेरे उपास्य हैं," इस प्रकार जहां उपास्य और उपासक में भेद की प्रतीति होती है वह द्वैत-नमस्कार है । जब रागद्वेष के संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाने पर चित्त की अत्यधिक स्थिरता हो जाती है और उपास्य और उपासक की भेद-प्रतीति भी नष्ट हो जाती है, केवल स्व-स्वरूप पर ही ध्यान अवस्थित हो जाता है, तब वह अद्वैत-नमस्कार है । इनमें पहला दूसरे का साधनमात्र है, पूरक एव पोषक है । ज्यों-ज्यों साधना के क्षेत्र में साधक प्रगति करता है, त्यों-त्यों साधक अभेद प्रधान बन जाता है । अद्वैत नमस्कार की साधना के लिए ही साधक को निश्चय दृष्टि की ओर बढ़ना चाहिए । नमस्कार मंत्र पढ़ते हुए साधक को नमस्कार के पांच महान् पदों के साथ अपने आपको

सर्वथा अभिन्न अनुभव करने का अभ्यास करना चाहिए। आदि के तीन नय भेद प्रधान हैं और अन्तिम चार नय अभेद प्रधान है। बाहर से भीतर की ओर बढ़ना निश्चय-दृष्टि है और भीतर से बाहर की ओर आना व्यवहार दृष्टि है।

अरिहन्त पद की प्राप्ति के लिये आचार्य एवं उपाध्याय पद का प्राप्त करना अत्यावश्यक नहीं है, किन्तु उसके लिए साधुत्व का होना निश्चित है। अतीत काल में अनन्त ऐसे जीव हुए है, जिन्होंने आचार्य और उपाध्याय पद को प्राप्त किया ही नहीं, फिर भी उन्होंने क्रमशः अरिहन्त और सिद्ध पदको प्राप्त किया है। इसका विशेष कारण यही है कि साधुत्व के पूर्ण विकास के बिना अरिहतत्व की प्राप्ति असम्भव होती है। साधुता से अरिहतपन और अरिहंतपन से सिद्धपन को प्राप्त करने का क्रम है। अतः निश्चय नय से यदि देखा जाए तो आत्म-विकास के तीन ही पद है। तीसरा और चौथा पद तो केवल व्यावहारिक है। यदि इन पदों में साधुपन का विकास बढ़ता ही जाए तो इन दो पदो की महत्ता भी वही है जो सुधर्मा स्वामी और जम्बू स्वामी को प्राप्त हुई। अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए ही परम एवं चरम लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

पंच परमेष्ठी पद सादि है या अनादि ? जैन दर्शन इस शंका का समाधान अनेकान्त दृष्टि से करता है—प्रवाह से पांचों पद अनादि कालीन हैं, ऐसा समय कभी न था, न है,

ग्रौर न होगा, जबकि इन पांच पदो में से एक, दो, तीन या चार ही पद रह गए हों या रह जाएंगे। ये पद पंचास्तिकाय की तरह शाश्वत हैं, किन्तु क्षेत्र की अपेक्षा ग्रौर काल की अपेक्षा सादि भी। इस दृष्टि से पांचो पद सादि है ग्रौर अनादि भी हैं। परमेष्ठी पद जब अनादि कालीन है तब उनकी संज्ञा भी अनादि काल से नियत है।

आचार्य, उपाध्याय ग्रौर साधु इन तीनों में परस्पर अनेक अंशों में समानता एवं एकता भी है? क्योकि तीनों के अंतरंग कारण प्रायः समान हैं। महाव्रत, तप, चारित्र, मूल-गुण, उत्तरगुण, संयम, समता, सहिष्णुता, आहार आदि का सविधि ग्रहण, क्रोध आदि काषायों पर विजय, क्षमादि दश धर्म, रत्नत्रय, छः कायों में यतना, जितेन्द्रियता, इन सब बातों की अपेक्षा तीन पदों में एकता एवं समानता है, क्योकि तीनों में साधुता है।

फिर भी लोक-व्यवहार में जैसे शासक की आवश्य-कता रहती है, तभी जनता अनुशासन का पालन कर सकती है, इससे सज्जनों की रक्षा होती है ग्रौर दुर्जन दण्डित होते है। शासक के बिना राष्ट्र में अराजकता फैल जाती है। वैसे ही साधक वर्गो मे भी सब की शक्ति, सबकी वृत्ति, सबकी धृति तुल्य नहीं होती। जो राग-द्वेष आदि विकारों से निवृत्त है वे उच्च-साधक हैं, वे जिनकल्पी की तरह बिना शासक के भी निरतर साधना में तल्लीन रहते है, किन्तु जो

रागद्वेष आदि विकारों से निवृत्त नहीं हुए ऐसे स्थविर-कल्पी साधु-वर्ग के लिये शासक के रूप में आचार्य की आवश्यकता रहती है, अन्यथा श्रीसंघ में अहता, ममता, अविनयता और स्वच्छन्दता बढ़ जाती है, जिसके कारण मूल-गुणों और उत्तर गुणों मे शैथिल्य का हो जाना स्वाभाविक है, अतः आचार्य के होने पर संघ-व्यवस्था बिल्कुल ठीक चलती है।

उपाध्याय भी साधकों में उच्चसाधक होते हैं, वे साधकों के अन्तर्मन में ज्ञान का प्रकाश भरते है, दूसरों को ज्ञान से प्रकाशित करते हैं। जो दीपक स्वयं प्रकाशमान है वह हजारों अन्य दीपको को ज्योतित होने में सहायता दे सकता है। जो दूसरो के शंका समाधान करने में कुशल है, शास्त्रार्थ कला में निपुण है, स्याद्वाद रहस्य का वेत्ता है, आगम-शास्त्रों का पारगामी है, अर्थ में मधुरता एवं सरलता लाने वाला है, वचन बोलने में चतुर है, वक्तृत्वकला में निष्णात है, वही चारित्र-शिरोमणि साधक उपाध्याय पद को सुशोभित करता है। उपाध्याय के बिना सघ में पढ़ने-पढ़ाने की व्यवस्था नहीं चल सकती। ज्ञान के बिना चारित्र की आराधना नहीं हो पाती, अतः आचार्य एवं उपाध्याय भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है।

सुदेव और सुगुरु

विश्व भर में जितने भी जीव हैं, वे चार प्रकार के हैं—

१. अविकसित, २. विकसिताविकसित, ३. विकसित,

४. पूर्णविकसित । इन में से अविकसित अवस्था मिथ्यादृष्टियों में पाई जाती है । विकसिताविकसित अवस्था अविरत सम्यग्दृष्टियों में तथा देशविरत-श्रावको में पाई जाती है । इनके विषय में हम यहां चर्चा नही करते । शेष दो अवस्थाओं मे परमेष्ठी के पांच पदों का समावेश हो जाता है, क्योंकि पांच पद ही विश्व के वंदनीय, नमस्करणीय एवं पूजनीय हैं । अरिहंत और सिद्ध, ये दो पद पूर्ण विकसित हैं ।

जो जीव चरम एवं परम लक्ष्य को प्राप्त कर गए है, उन्हें सिद्ध कहते है तथा जो निश्चय ही निकटतम भविष्य में सिद्धत्व प्राप्त करनेवाले हैं, अथवा जिन्होंने सिद्धत्व की परिधि में प्रवेश कर लिया है, किन्तु अभी सिद्धत्व को प्राप्त नहीं किया, वे अरिहंत कहलाते है । ये दोनो पद परम श्रद्धेय होने से सुदेव हैं । जैन दर्शन देव-गति प्राप्त जीवों को पूज्य एवं वन्दनीय स्वीकार नहीं करता, क्योंकि वे भी संसार के नियमों से बद्ध हैं, अत: वे सुदेव नहीं हो सकते । जिन्होने आध्यात्मिकता की सभी घाटियों को पार कर लिया है, वे ही सुदेव कहे जा सकते है ।

आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन पद विकसित अवस्था के माने जाते हैं, इन्हें साधक या सुगुरु भी कहा जाता है । जो साधना के क्षेत्र में परम लक्ष्य की ओर अविराम गति से आगे बढ़ते जा रहे हैं, जिनका चारित्र ज्ञान एवं विज्ञान के प्रकाश से प्रकाशमान हो रहा है, जिनका

निश्चय परम लक्ष्य की ओर संलग्न है, जिनका मन विषय-कषायों से, राग-द्वेष-मोह आदि विकारों से विमुख हो गया है, उन महामानवों को सुगुरु कहा जाता है। जो ज़र जोरू और ज़मीन के पचड़े में फंसे हुए हैं, कनक-कामिनी के गुलाम बने हुए हैं, डेरे-डंडे के मालिक बने हुए है, जो सदैव यान-वाहन का उपयोग करने वाले है, जो संयम और तप से कोसों दूर हैं, जो गृहस्थों की तरह महारंभी और महा-परिग्रही हैं तथा राजसी वैभव से संपन्न हैं, ऐसे साधु वेषधारी गुरु ही नहीं हो सकते तो वे सुगुरु कैसे बन सकते हैं ? अतः सुदेव और सुगुरु, इन दो पदो मे परमेष्ठी के पांच पदो का समावेश हो सकता है।

उपर्युक्त पूर्ण विश्लेषण से हम इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि नमस्कार मन्त्र जीवन के विस्तृत विकास-पथ पर बढ़ते हुए साधकों को पांचों अवस्थाओं में नमस्कार करता है, विकास की प्रथम सीढ़ी पर साधु रूप में, द्वितीय सीढ़ी पर उपाध्याय रूप में, तीसरी सीढ़ी पर आचार्य रूप मे, चौथी सीढ़ी पर सिद्ध रूप में और पांचवी सीढ़ी पर अरि-हन्त रूप में दिव्यात्माओ के चरणों में नमस्कार करके नमस्कार करनेवाला जीवन लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, उसके जीवन में मंगल की सृष्टि होती है और उस मंगलमयी अवस्था में नमस्कार करनेवाला मंगल रूप अध्यात्म-पथ पर अग्रसर होता हुआ एक दिन स्वयं मगलरूप बन जाता है। यही नमस्कार मन्त्र की महत्ता एवं उपयोगिता है। ●

 031455